

गौगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगं
 जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरु
 पार्श्वनाथ विद्यापीठ, गन्धर्वाला, संख्या- १५ ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । त
 गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा
 सस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहा
 णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोग
 सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स
 लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगं
 जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरु
 वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । त
 गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा
 तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहा
 णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोग
 सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स
 लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगं
 जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरु
 वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । त
 गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा
 तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहा
 णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स ॥ जेणविणा लोग
 सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगंत वायस्स
 लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमोऽणेगं
 जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्क गुरु
 वायस्स ॥ जेणविणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । त

सिद्धमेन दिवाकर
व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ० श्रीप्रबोधशरणेपाण्डेय ॥

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ९५

प्रधान सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

लेखक

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

वाराणसी-५

१९९७

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० : ९५

पुस्तक : सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी-५
दूरभाष : ०५४२-३१६५२१, ३१८०४६

I.S.B.N. : 81-86715-22-3

प्रथम संस्करण : १९९७

मूल्य : रु० १००.००

अक्षर सज्जा : सरिता कम्प्यूटर्स, वाराणसी।

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी

Parshvanath Vidyapeeth Series No. : 95

Title : **Siddhasena Divākara : Vyaktitva Evam Kṛtitva**

Publisher : **Parshvanath Vidyapeeth**
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5.
Teliphone : 0542-316521, 318046

First Edition : 1997

Price : Rs. 100.00

Type Setting at : Sarita Computers, Varanasi.

Printed at : Vardhaman Mudranalaya, Varanasi.

प्रकाशकीय

सिद्धसेन दिवाकर जैन दार्शनिक साहित्य के महत्वपूर्ण आचार्य रहे हैं। उन्होंने न केवल **सन्मतिसूत्र** जैसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की अपितु अपनी रचनाओं में कई भक्तिपरक स्तोत्रों को भी स्थान दिया। सिद्धसेन के सत्ता समय एवं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में विगत कुछ वर्षों से आधुनिक विद्वानों ने ऊहापोह की स्थिति पैदा कर दी है। उनके नाम पर चढ़ी उनकी रचनाएँ यथा— **सन्मतितर्क**, **न्यायावतार**, **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** आदि रचनाएँ उन्हीं की हैं या किसी अन्य आचार्य द्वारा रचित हैं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतवैभिन्न रहा है। डॉ०श्रीप्रकाश पाण्डेय ने सिद्धसेन दिवाकर की उपलब्ध सभी रचनाओं का सम्यक् अनुशीलन कर अपना निष्कर्ष इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। हम डॉ०पाण्डेय के आभारी हैं कि उन्होंने इस कृति का प्रणयन कर इसे प्रकाशनार्थ हमें दिया।

इस ग्रन्थ की प्रूफ रीडिंग से लेकर प्रकाशन सम्बन्धी सम्पूर्ण दायित्व का निर्वहन डॉ०पाण्डेय ने स्वयं किया है एतदर्थ वे निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं।

सुन्दर अक्षर सज्जा के लिए सरिता कम्प्यूटर्स एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है यह कृति जैन धर्म-दर्शन पर शोधरत शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

भवदीय

भूपेन्द्र नाथ जैन
मानद सचिव
पाश्चर्नाथ विद्यापीठ

पुरोवाक्

सिद्धसेन दिवाकर जैन दार्शनिक साहित्य के ऐसे समर्थ आचार्य रहे हैं जिन्होंने न केवल सैद्धान्तिक एवं आगमिक परिभाषाओं और शब्दों को दर्शन की परिमीमाओं में बांधने का महत्वपूर्ण कार्य किया अपितु उन्हें एक नया आयाम भी दिया। उन्हें जैन परम्परा में तर्क विद्या और तर्क प्रधान संस्कृत वाङ्मय का आद्य प्रणेता कहा गया है। वे आद्य जैन दार्शनिक होने के साथ-साथ आद्य सर्वभारतीय दर्शनों के संग्राहक भी हैं। जैन दर्शन के प्राणरूप अनेकान्त दृष्टि का व्यवस्थित और नये सिरे से निरूपण करना, तर्कशैली से उसका पृथक्करण एवं प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण कर तार्किकों में उसे प्रतिष्ठित करना, दर्शनान्तरों में जैन दर्शन के स्थान एवं महत्व का प्रतिपादन करना तथा नवीन स्फुरित विचारणाओं को अनेकान्त की कसौटी पर कसना दिवाकर की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य रहा है, और अपने इस उद्देश्य में वे काफी हद तक सफल भी हुए हैं। सिद्धसेन दिवाकर को जिन रचनाओं का कर्ता माना जाता है उनमें **सन्मतितर्क**, **द्वात्रिंशद्द्वित्रिंशिका**, **न्यायावतार** एवं **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त भी कई एक कृतियाँ हैं जिनके कर्ता वे माने जाते हैं, परन्तु उपलब्ध नहीं हैं। आधुनिक विद्वानों ने **सन्मत्सूत्र** एवं कुछ **द्वात्रिंशिकाओं** के अतिरिक्त उनकी सभी रचनाओं को उनके द्वारा रचित मानने में सन्देह व्यक्त किया है।

यही कारण था जिससे मेरे अन्तस् में इस विषय पर कार्य करने की उत्सुकता जागृत हुई। जैनधर्म-दर्शन के महामनीषि पद्मभूषण पं० दलसुख मालवणिया कुछ वर्ष पूर्व जब विद्यापीठ में पधारे थे, उस समय आप से इस सन्दर्भ में मेरी चर्चा हुई, विशेषकर 'न्यायावतार' के सन्दर्भ में। उन्होंने कहा 'अब जबकि नित नये शोध हो रहे हैं और पुरानी मान्यताएँ टूटती जा रही हैं सिद्धसेन दिवाकर की कृतियों को भी नये सिरे से व्याख्यायित किया जाना चाहिए। फलतः मैंने श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० सागरमल जैन की अनुमति से इस विषय पर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इस कृति के प्रणयन के दौरान अनेक विद्वानों से सक्षात्कार एवं विचार-विमर्श का अवसर मिला जिससे हमारे निष्कर्षों को बल मिला।

प्रस्तुत कृति के प्रथम अध्याय में हमने सिद्धसेन दिवाकर के सत्ता समय को अनेक साहित्यिक साक्ष्यों के आलोक में प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया है।

दूसरे अध्याय में आचार्य के व्यक्तित्व के कुछ मुख्य पहलुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो प्रबन्धादि साहित्य के आधार पर उपलब्ध हो सके हैं। क्योंकि स्वयं आचार्य ने अपने जीवन के विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा है। तीसरे अध्याय में उनकी कृतियों, उनके पौर्वापर्य सम्बन्धों तथा कौन सी रचनाएँ आचार्य द्वारा रचित हैं और कौन नहीं, इस प्रश्न को उपलब्ध तत्कालीन साहित्य के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

आभार प्रदर्शन के क्रम में मैं सर्वप्रथम पद्मभूषण पं० दलसुख मालवणिया का आभार प्रकट करता हूँ जो इस कृति के प्रणयन के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। हम आपके विशेष आभारी इसलिए भी हैं कि समय-समय पर इस सन्दर्भ में आपका सुझाव हमें प्राप्त होता रहा।

श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० सागरमल जैन का आभार मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ जिन्होंने इस कृति के प्रणयन के लिए न केवल मुझे उत्साहित किया अपितु इस कृति की पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढ़कर उचित मार्गदर्शन भी दिया तथा इस कृति के लिए विद्वत्तापूर्ण 'प्रस्तावना' भी लिखी। यद्यपि इस कृति में हमारे निष्कर्ष आपके निष्कर्षों से भिन्न हैं फिर भी मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, वहाँ बिना आपकी सहायता के नहीं पहुँच पाता, यह यथार्थ है। कृति के प्रकाशन की इस बेला में श्रद्धेय गुरुवर्य के प्रति मैं श्रद्धा से नत हूँ।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ प्रबन्ध समिति के मानद सचिव प्रसिद्ध उद्योगपति श्री भूपेन्द्र नाथ जी जैन एवं संयुक्त सचिव श्री इन्द्रभूति बरड़ के प्रति मैं सहृदय आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस कृति के प्रकाशनार्थ अपनी स्वीकृति दी।

हमारे पूज्य गुरुदेव प्रो० रेवती रमण पाण्डेय, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जिन्होंने न केवल मुझमें दर्शन का बीज वपन किया बल्कि उसे पल्लवित व पुष्पित भी किया, ऐसे गुरुश्रेष्ठ की गुरुता शब्दाभिव्यक्ति से परे मेरे लिए महज अनुभवजन्य है।

इस कृति के प्रणयन में जैन मन्दिरस्थापत्य एवं कला के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० एम० ए० ढाकी, सह-निदेशक-शोध, अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज का महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। आपसे हमें बहुत कुछ सीखने को मिला है। विशेषकर प्रस्तुत कृति के सन्दर्भ में आपसे गहन चर्चाएँ हुईं। मैं आपके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मेरे मित्रगण जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस कृति के प्रणयन में हमारे सहयोगी रहे हैं और जिनसे हमने जैन एवं जैनतर अन्य दार्शनिक समस्याओं पर

विचार-विमर्श किया, उन मित्रों में डॉ०अशोक कुमार सिंह, डॉ०शिवप्रसाद एवं डॉ०वीरेन्द्रनाथ पाण्डेय का मैं सहृदय आभारी हूँ।

हमारे सहयोगी एवं पुस्तकालयाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश सिंह का भी मैं आभारी हूँ जिनसे समय-समय पर पुस्तकालयीन सहायता मिलती रही।

इस ग्रन्थ में हमारे जो निष्कर्ष हैं, उनकी अपनी सीमाएँ हो सकती हैं और उनका मुझे बोध भी है। इस कृति का सही मूल्यांकन तो सुधी पाठकगण ही कर सकेंगे, मैं आभारी रहूँगा उन विज्ञ पाठकों का जो इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे अवगत कराने का कष्ट करेंगे।

दीपावली ३०, अक्टूबर, १९९७
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

भवदीय
डॉ०श्रीप्रकाश पाण्डेय

विषय-सूची

	पृष्ठसंख्या
भूमिका	I-XXI
अध्याय १	
सिद्धसेन दिवाकर और उनका समय	१-२४
अध्याय २	
जीवन वृत्तान्त	२५-३३
अध्याय ३	
सिद्धसेन दिवाकर की कृतियाँ	३४-७१
शब्द-सूची	७२-७७
सहायक ग्रन्थ-सूची	७८-८०



भूमिका

सिद्धसेन दिवाकर जैन दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान् रहे हैं। जैन दर्शन के क्षेत्र में अनेकान्तवाद की तार्किक स्थापना करने वाले वे प्रथम पुरुष हैं। जैनदर्शन के आद्य तार्किक होने के साथ-साथ वे भारतीय दर्शन के आद्य संग्राहक और समीक्षक भी हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में विभिन्न भारतीय दर्शनों की तार्किक समीक्षा भी प्रस्तुत की है। ऐसे महान् दार्शनिक के जीवनवृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में रचित प्रबन्धों के अतिरिक्त अन्यत्र मात्र सांकेतिक सूचनाएँ ही मिलती हैं। यद्यपि उनके अस्तित्व के सन्दर्भ में हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों में संकेत उपलब्ध होते हैं। लगभग चतुर्थ शताब्दी से जैन ग्रन्थों में उनके और उनकी कृतियों के सन्दर्भ हमें उपलब्ध होने लगते हैं। फिर भी उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी का अभाव ही है। यही कारण है कि उनके जीवनवृत्त, सत्ताकाल, परम्परा तथा कृतियों को लेकर अनेक विवाद आज भी प्रचलित हैं। यद्यपि पूर्व में पं० सुखलाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, पं० जुगल किशोर जी मुख्तार आदि विद्वानों ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सन्दर्भ में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है किन्तु इन विद्वानों की परस्पर विरोधी स्थापनाओं के कारण विवाद अधिक गहराता ही गया। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में उनकी परम्परा और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से विचार करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनके समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में आज तक की नवीन खोजों के परिणामस्वरूप जो कुछ नये तथ्य सामने आये हैं उन्हें दृष्टि में रखकर मैंने डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय को सिद्धसेन दिवाकर के व्यक्तित्व और कृतित्व के सन्दर्भ में एक पुस्तक तैयार करने को कहा था। आज जबकि यह कृति प्रकाशित हो रही है इसके सम्बन्ध में यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होंने सिद्धसेन दिवाकर के सन्दर्भ में अब तक जो कुछ लिखा गया था उसका आलोड़न और विलोड़न करके ही इस कृति का प्रणयन किया है। उनकी यह कृति मात्र उपलब्ध सूचनाओं का संग्रह ही नहीं है अपितु उनके तार्किक चिन्तन का परिणाम है। यद्यपि अनेक स्थलों पर मैं उनके निष्कर्षों से सहमत नहीं हूँ फिर भी उन्होंने जिस तार्किकता के साथ अपने पक्ष को प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही श्लाघनीय है।

वस्तुतः सिद्धसेन के सन्दर्भ में प्रमुख रूप से तीन ऐसी बातें रही हैं जिनपर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है—

(१) उनका सत्ता काल

(२) उनकी परम्परा और

(३) न्यायावतार एवं कुछ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओं के कृतित्व का प्रश्न।

यद्यपि उनके सत्ताकाल के सन्दर्भ में मेरे मन्तव्य एवं डॉ० पाण्डेय के मन्तव्य में अधिक दूरी नहीं है फिर भी जहाँ उन्होंने अपने निष्कर्ष में सिद्धसेन को ५वीं शताब्दी का आचार्य माना है, वहाँ मैं इस काल सीमा को लगभग १०० वर्ष पहले ले जाने के पक्ष में हूँ। जिसकी चर्चा मैं यहाँ करना चाहूँगा।

सिद्धसेन का काल

उनके काल के सम्बन्ध में पं० सुखलाल जी ने एवं डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने विस्तृत चर्चा की है।^१ अतः हम तो यहाँ केवल संक्षिप्त चर्चा करेंगे। प्रभावकचरित में सिद्धसेन की गुरु परम्परा की विस्तृत चर्चा हुई है। उसके अनुसार सिद्धसेन आर्य स्कन्दिल के प्रशिष्य और वृद्धवादी के शिष्य थे। आर्य स्कन्दिल को माथुरी वाचना का प्रणेता माना जाता है। यह वाचना वीर निर्वाण ८४० में हुई थी। इस दृष्टि से आर्य स्कन्दिल का समय विक्रम की चतुर्थ शताब्दी (८४०-४७०=३७०) के उत्तरार्ध के लगभग आता है। कभी-कभी प्रशिष्य अपने प्रगुरु के समकालिक भी होता है, इस दृष्टि से सिद्धसेन दिवाकर का काल भी विक्रम की चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। प्रबन्धों में सिद्धसेन को विक्रमादित्य का समकालीन माना गया है। यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य मान लिया जाय तो सिद्धसेन चतुर्थ शती के सिद्ध होते हैं। यह माना जाता है उनकी सभा में कालिदास, क्षणक आदि नौ रत्न थे। यदि क्षणक सिद्धसेन ही थे तो इस दृष्टि से भी सिद्धसेन का काल विक्रम की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल भी विक्रम की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। पुनः मल्लवादी ने सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क पर टीका लिखी थी, ऐसा निर्देश आचार्य हरिभद्र ने किया है। प्रबन्धों में मल्लवादी का काल वीर निर्वाण संवत् ८८४ (८८४-४७०=४१४) के आसपास माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सन्मतिसूत्र पर टीका लिखी जा चुकी थी। अतः सिद्धसेन विक्रम की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे। पुनः विक्रम की छठी शताब्दी में पूज्यपाद देवन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण में सिद्धसेन के मत का उल्लेख

क्रिया है। पूज्यपाद देवन्दी का काल विक्रम की पाँचवी-छठी शती माना गया है। इससे भी वे विक्रम संवत् के छठी शताब्दी के पूर्व हुए हैं, यह तो सुनिश्चित हो जाता है।

मथुरा के अभिलेखों में दो अभिलेख ऐसे हैं, जिनमें आर्य वृद्धहस्ति का उल्लेख है। संयोग से इन दोनों अभिलेखों में काल भी दिया हुआ है। ये अभिलेख हुविष्क के काल के हैं। इनमें से प्रथम में वर्ष ६० का और द्वितीय में वर्ष ७९ का उल्लेख है। यदि हम इसे शक संवत् मानें तो तदनुसार दूसरे अभिलेख का काल लगभग विक्रम संवत् २१५ होगा। यदि ये लेख उनकी युवावस्था के हों तो आचार्य वृद्धहस्ति का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध तक माना जा सकता है। इस दृष्टि से सिद्धसेन का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच माना जा सकता है।

इस समग्र चर्चा से इतना निश्चित होता है कि सिद्धसेन दिवाकर के काल की सीमा रेखा विक्रम संवत् की तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर विक्रम संवत् की पंचम शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच ही कहीं निश्चित होगी। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी ने उनका काल चतुर्थ-पंचम शताब्दी निश्चित किया है। प्रो० ढाकी ने भी उन्हें पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध में माना है, किन्तु इस मान्यता को उपर्युक्त अभिलेखों के आलोक में तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय से समकालिकता की दृष्टि से थोड़ा पीछे लाया जा सकता है। यदि आर्य वृद्धहस्ति ही वृद्धवादी हैं और सिद्धसेन उनके शिष्य हैं तो सिद्धसेन का काल विक्रम की तृतीय शती के उत्तरार्ध से चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच ही मानना होगा। कुछ प्रबन्धों में उन्हें आर्य धर्म का शिष्य भी कहा गया है। आर्य धर्म का उल्लेख **कल्पसूत्र स्थविरावली** में है। वे आर्य वृद्ध के बाद तीसरे क्रम पर उल्लिखित हैं। इसी **स्थविरावली** में एक आर्य धर्म देवर्धिगणिकामश्रमण के पूर्व भी उल्लेखित हैं। यदि हम सिद्धसेन के **सन्मतिप्रकरण** और **तत्त्वार्थसूत्र** की तुलना करें तो दोनों में कुछ समानता परिलक्षित होती है। विशेष रूप से **तत्त्वार्थसूत्र** में अनेकान्त दृष्टि को व्याख्यायित करने के लिए 'अर्पित' और 'अनर्पित' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग **सन्मतितर्क** (१/४२) में भी पाया जाता है। मेरी दृष्टि में सिद्धसेन उमास्वाति से किंचित् परवर्ती हो सकते हैं।

सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा

जहाँ तक उनकी परम्परा का प्रश्न है डॉ० पाण्डेय ने इसकी विस्तृत चर्चा नहीं की है। सम्भवतः डॉ० पाण्डेय ने उनकी परम्परा के सन्दर्भ में विशेष उल्लेख यह

जानकर नहीं किया हो कि इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने ग्रन्थ **जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय** में की है। अतः मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि यह चर्चा इस भूमिका में कर दी जाए।

सिद्धसेन दिवाकर के सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं। जिनभद्र, हरिभद्र आदि से प्रारम्भ करके पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी आदि सभी श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् एकमत से उन्हें अपने सम्प्रदाय का स्वीकार करते हैं।^२ इसके विपरीत **षट्खण्डागम** की **धवला** टीका एवं जिनसेन के **हरिवंश** तथा रविषेण के **पद्मपुराण** में सिद्धसेन का उल्लेख होने से पं० जुगल किशोर मुख्तार जैसे दिगम्बर परम्परा के कुछ विद्वान् उन्हें अपनी परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।^३ किन्तु दिगम्बर परम्परा से उनकी कुछ भिन्नताओं को देखकर प्रो० ए० एन० उपाध्ये आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने उन्हें यापनीय परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।^४ प्रो० उपाध्ये ने जो तर्क दिये उन्हें स्पष्ट करते हुए तथा अपनी ओर से कुछ अन्य तर्कों को प्रस्तुत करते हुए डॉ० कुसुम पटोरिया ने भी उन्हें यापनीय परम्परा का सिद्ध किया है।^५ प्रस्तुत सन्दर्भ में हम इन विद्वानों के मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए यह निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे कि वस्तुतः सिद्धसेन की परम्परा क्या थी?

क्या सिद्धसेन दिगम्बर हैं?

समन्तभद्र की कृति के रूप में मान्य **रत्नकण्डक श्रावकाचार** में प्राप्त **न्यायावतार** की जिस समान कारिका को लेकर विवाद है कि यह सिद्धसेन ने समन्तभद्र से ली है, इस सम्बन्ध में प्रथम तो यह निश्चित नहीं है कि **रत्नकरण्ड** समन्तभद्र की कृति है दूसरे यह कि यह कारिका दोनों ग्रन्थों में अपने योग्य स्थान पर है अतः इसे सिद्धसेन से समन्तभद्र ने लिया है या समन्तभद्र से सिद्धसेन ने लिया है यह कह पाना कठिन है। तीसरे, यदि समन्तभद्र भी लगभग ५वीं शती के आचार्य हैं और **न्यायावतार** को सिद्धसेन की कृति मानने में बाधा नहीं है, तो यह भी सम्भव है, समन्तभद्र ने इसे सिद्धसेन से लिया हो। समन्तभद्र की **आप्तभीमांसा** में भी **सन्मतितर्क** की कई गाथाएँ अपने संस्कृत रूप में मिलती हैं।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार **सन्मतिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तथापि मुख्तार जी उन्हें दिगम्बर परम्परा का आचार्य होने के सम्बन्ध में कोई भी आधारभूत प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। उनके तर्क मुख्यतः दो बातों पर स्थित हैं^६— प्रथमतः सिद्धसेन के ग्रन्थों से यह फलित नहीं होता कि वे स्त्रीभुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्रभुक्ति आदि के समर्थक

थे। दूसरे यह कि सिद्धसेन अथवा उनके ग्रन्थ **सन्मतिसूत्र** का उल्लेख जिनसेन, हरिषेण, वीरषेण आदि दिगम्बर आचार्यों ने किया है— इस आधार पर वे उनके दिगम्बर परम्परा के होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। यदि आदरणीय मुख्तार जी उनके ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति या सवस्त्रमुक्ति का समर्थन नहीं होने के निषेधात्मक तर्क के आधार पर उन्हें दिगम्बर मानते हैं, तो फिर इसी प्रकार के निषेधात्मक तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उनके ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्र मुक्ति का खण्डन नहीं है, अतः वे श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य हैं।

पुनः मुख्तार जी ये मान लेते हैं कि रविषेण और पुत्राटसंघीय जिनसेन दिगम्बर परम्परा के हैं, यह भी उनकी भ्रांति है। रविषेण यापनीय परम्परा के हैं अतः उनके परदादा गुरु के साथ में सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख मानें तो भी वे यापनीय सिद्ध होंगे, दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होंगे। आदरणीय मुख्तारजी ने एक यह विचित्र तर्क दिया है कि श्वेताम्बर प्रबन्धों में सिद्धसेन के **सन्मतिसूत्र** का उल्लेख नहीं है, इसलिए प्रबन्धों में उल्लिखित सिद्धसेन अन्य कोई सिद्धसेन हैं, वे **सन्मतिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन नहीं हैं। किन्तु मुख्तारजी ये कैसे भूल जाते हैं कि प्रबन्ध ग्रन्थों के लिखे जाने के पाँच सौ वर्ष पूर्व हरिभद्र के **पंचवस्तु** तथा जिनभद्र की **निशीथचूर्णि** में **सन्मतिसूत्र** और उसके कर्ता के रूप में सिद्धसेन के उल्लेख उपस्थित हैं। जब प्रबन्धों से प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थों में **सन्मतिसूत्र** के कर्ता के रूप में सिद्धसेन का उल्लेख है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रबन्धों में जो सिद्धसेन का उल्लेख है, वह **सन्मतिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन का न होकर कुछ **द्वात्रिंशिकाओं** और **न्यायावतार** के कर्ता किसी अन्य सिद्धसेन का है। पुनः श्वेताम्बर आचार्यों ने यद्यपि सिद्धसेन के अभेदवाद का खण्डन किया है और उन्हें आगमों की अवमानना करने पर दण्डित किये जाने का उल्लेख भी किया है, किन्तु किसी ने भी उन्हें अपने से भिन्न परम्परा या सम्प्रदाय का नहीं बताया है। श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् उन्हें मतभिन्नता के बावजूद भी अपनी ही परम्परा का आचार्य प्राचीन काल से मानते आ रहे हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उन्हें दण्डित करने की जो कथा प्रचलित है, वह भी यही सिद्ध करती है कि वे सचेल धारा में ही दीक्षित हुए थे, क्योंकि किसी आचार्य को दण्ड देने का अधिकार अपनी ही परम्परा के व्यक्ति को होता है— अन्य परम्परा के व्यक्ति को नहीं। अतः सिद्धसेन दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे, यह किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होता है।

केवल यापनीय ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में सिद्धसेन का उल्लेख होने से इतना ही सिद्ध होता है कि सिद्धसेन यापनीय परम्परा में मान्य रहे हैं। पुनः श्वेताम्बर

धारा से कुछ बातों में अपनी मत-भिन्नता रखने के कारण उनको यापनीय या दिगम्बर परम्परा में आदर मिलना अस्वाभाविक भी नहीं है। जो भी हमारे विरोधी का आलोचक होता है, वह हमारे लिए आदरणीय होता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। कुछ श्वेताम्बर मान्यताओं का विरोध करने के कारण सिद्धसेन यापनीय और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में आदरणीय रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दिगम्बर या यापनीय हैं। यह तो उसी लोकोक्ति के आधार पर हुआ है कि 'शत्रु का शत्रु मित्र होता है।' किसी भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ में सिद्धसेन के जीवनवृत्त का उल्लेख न होने से तथा श्वेताम्बर परम्परा में उनके जीवनवृत्त का सविस्तार उल्लेख होने से तथा श्वेताम्बर परम्परा द्वारा उन्हें कुछ काल के लिए संघ से निष्कासित किये जाने के विवरणों से यही सिद्ध होता है कि वे दिगम्बर या यापनीय परम्परा के आचार्य नहीं थे। मतभेदों के बावजूद भी श्वेताम्बरों ने सदैव ही उन्हें अपनी परम्परा का आचार्य माना है। दिगम्बर आचार्यों ने उन्हें 'द्वेष्य-सितपट' तो कहा, किन्तु अपनी परम्परा कभी नहीं माना। एक भी ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है जिसमें **सन्मतिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परम्परा का कहा गया हो। जबकि श्वेताम्बर भण्डारों में उपलब्ध उनकी कृतियों की प्रतिलिपियों में उन्हें श्वेताम्बराचार्य कहा गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में छठी-सावतीं शताब्दी से लेकर मध्यकाल तक सिद्धसेन के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। पुनः सिद्धसेन की कुछ द्वात्रिंशिकायें स्पष्ट रूप से महावीर के विवाह आदि श्वेताम्बर मान्यता एवं आगम ग्रन्थों की स्वीकृति और आगमिक सन्दर्भों का उल्लेख करती हैं।^९ यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ यह भी उल्लेख करते हैं कि कुछ प्रश्नों को लेकर उनका श्वेताम्बर मान्यताओं से मतभेद था, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता है कि वे किसी अन्य परम्परा के आचार्य थे। यद्यपि सिद्धसेन श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य को स्वीकार करते थे किन्तु वे आगमों को युगानुरूप तर्क पुरस्सरता भी प्रदान करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने **सन्मतिसूत्र** में आगमभीरु आचार्यों पर कटाक्ष किया तथा आगमों में उपलब्ध असंगतियों का निर्देश भी किया है।^{१०} परवर्ती प्रबन्धों में उनकी कृति **सन्मतिसूत्र** का उल्लेख नहीं होने का स्पष्ट कारण यह है कि **सन्मतिसूत्र** में श्वेताम्बर आगम मान्य क्रमवाद का खण्डन है और मध्ययुगीन सम्प्रदायगत मान्यताओं से जुड़े हुए श्वेताम्बराचार्य यह नहीं चाहते थे कि उनके **सन्मतिसूत्र** का संघ में व्यापक अध्ययन हो। अतः जानबूझकर उन्होंने उसकी उपेक्षा की।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने **सन्मतिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर सिद्ध करने के उद्देश्य से यह मत भी प्रतिपादित किया है कि **सन्मतिसूत्र** के कर्ता

सिद्धसेन, कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन और **न्यायावतार** के कर्ता सिद्धसेन—ये तीनों अलग-अलग व्यक्ति हैं।^{११} उनकी दृष्टि में **सन्मतिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर हैं— शेष दोनों श्वेताम्बर हैं। किन्तु यह उनका दुराग्रह मात्र है— वे यह बता पाने में पूर्णतः असमर्थ रहे हैं कि आखिर ये दोनों सिद्धसेन कौन हैं? सिद्धसेन के जिन ग्रन्थों में दिगम्बर मान्यता का पोषण नहीं होता हो, उन्हें अन्य किसी सिद्धसेन की कृति कहकर छुटाकारा पा लेना उचित नहीं कहा जा सकता। उन्हें यह बताना चाहिए कि आखिर ये द्वात्रिंशिकायें कौन से सिद्धसेन की कृति हैं और क्यों इन्हें अन्य सिद्धसेन की कृति माना जाना चाहिए? मात्र श्वेताम्बर मान्यताओं का उल्लेख होने से उन्हें सिद्धसेन की कृति होने से नकार देना तो युक्तिसंगत नहीं है। यह तो तभी सम्भव है जब अन्य सुस्पष्ट आधारों पर यह सिद्ध हो चुका हो कि **सन्मतिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर हैं। इसके विपरीत प्रतिभा समानता के आधार पर पं० सुखलाल जी इन द्वात्रिंशिकाओं को **सन्मतिसूत्रकार** सिद्धसेन की ही कृतियाँ मानते हैं।^{१२} श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर, सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनमें सिद्धसेन दिवाकर को ही **सन्मतिसूत्र**, स्तुतियों (द्वात्रिंशिकाओं) और **न्यायावतार** का कर्ता माना गया है। सिद्धसेनगणि **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** की वृत्ति के कर्ता हैं और सिद्धर्षि-सिद्धसेन के ग्रन्थ **न्यायावतार** के टीकाकार हैं। सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि को कहीं भी **द्वात्रिंशिकाओं** और **न्यायावतार** का कर्ता नहीं कहा गया है।

पुनः आज तक एक भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि किसी भी यापनीय या दिगम्बर आचार्य के द्वारा महाराष्ट्री प्राकृत में कोई ग्रन्थ लिखा गया हो। यापनीय और दिगम्बर आचार्यों ने जो कुछ भी प्राकृत में लिखा है वह सब शौरसेनी प्राकृत में ही लिखा है, जबकि **सन्मतिसूत्र** स्पष्टतः महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। **सन्मतिसूत्र** का महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा जाना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सिद्धसेन यापनीय या दिगम्बर नहीं हैं। वे या तो श्वेताम्बर हैं या फिर उत्तर भारत की उस निर्ग्रन्थ धारा के सदस्य हैं, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों विकसित हुए हैं। किन्तु वे दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में नहीं हैं।

सिद्धसेन का **सन्मतिसूत्र** एक दार्शनिक ग्रन्थ है और उस काल तक स्त्री-मुक्ति और केवली-भुक्ति जैसे प्रश्न उत्पन्न ही नहीं हुए थे। अतः **सन्मतिसूत्र** में न तो इनका समर्थन है और न खण्डन ही। इस काल में उत्तरभारत में आचार और विचार के क्षेत्र में जैन संघ में विभिन्न मान्यताएँ जन्म ले चुकी थीं, किन्तु अभी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय आदि रूपों में नहीं हो पाया था। वह युग था जब जैन परम्परा में तार्किक चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था और धार्मिक एवं आगमिक

मान्यताओं को लेकर मतभेद पनप रहे थे। सिद्धसेन का आगमिक मान्यताओं को तार्किकता प्रदान करने का प्रयत्न भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। फिर भी उस युग में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय ऐसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में स्पष्ट नाम निर्देश के साथ जो सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे लगभग ई० सन् ४७५ तदनुसार विक्रम सं० ५३२ के लगभग अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी पूर्वार्ध के हैं। अतः सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि उस युग तक न तो सम्प्रदायों का नामकरण हुआ था और न ही वे अस्तित्व में आये थे। मात्र गण, कुल, शाखा आदि का ही प्रचलन था और यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन विद्याधर शाखा (कुल) के थे।

क्या सिद्धसेन यापनीय हैं?

प्र०ए०एन०उपाध्ये ने सिद्धसेन के यापनीय होने के सन्दर्भ में जो तर्क दिये हैं,^{१३} यहाँ उनकी समीक्षा कर लेना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

(१) उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि सिद्धसेन दिवाकर के लिए आचार्य हरिभद्र ने श्रुतकेवली विशेषण का प्रयोग किया है और श्रुतकेवली यापनीय आचार्यों का विशेषण रहा है। अतः सिद्धसेन यापनीय हैं। इस सन्दर्भ में हमारा कहना यह है कि श्रुतकेवली विशेषण न केवल यापनीय परम्परा के आचार्यों का अपितु श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्यों का भी विशेषण रहा है। यदि श्रुतकेवली विशेषण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही परम्पराओं में पाया जाता है तो फिर यह निर्णय कर लेना कि सिद्धसेन यापनीय हैं उचित नहीं होगा।

(२) आदरणीय उपाध्येजी का दूसरा तर्क यह है कि **सन्मतिसूत्र** का श्वेताम्बर आगमों से कुछ बातों में विरोध है। उपाध्येजी के इस कथन में इतनी सत्यता अवश्य है कि **सन्मतिसूत्र** की अभेदवादी मान्यता का श्वेताम्बर आगमों से विरोध है। मेरी दृष्टि से यही एक ऐसा कारण रहा है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने प्रबन्धों में उनके **सन्मतितर्क** का उल्लेख नहीं किया है। लेकिन मात्र इससे वे न तो आगम विरोधी सिद्ध होते हैं और न यापनीय ही। सर्वप्रथम तो श्वेताम्बर आचार्यों ने उन्हें अपनी परम्परा का मानते हुए ही उनके इस विरोध का निर्देश किया है, कभी उन्हें भिन्न परम्परा का नहीं कहा है। दूसरे, यदि हम **सन्मतिसूत्र** को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि वे आगमों के आधार पर ही अपने मत की पुष्टि करते थे। उन्होंने आगम मान्यता के अन्तर्विरोध को स्पष्ट करते हुए सिद्ध किया है कि अभेदवाद भी आगमिक धारणा के अनुकूल है। वे स्पष्टरूप से कहते हैं कि आगम के अनुसार

केवलज्ञान सादि और अनन्त है, तो फिर क्रमवाद सम्भव नहीं होता है क्योंकि केवल ज्ञानोपयोग समाप्त होने पर ही केवल दर्शनोपयोग हो सकता है। वे लिखते हैं कि सूत्र की आशातना से डरने वाले को इस आगम वचन पर भी विचार करना चाहिए।^{१४} वस्तुतः अभेदवाद के माध्यम से वे, उन्हें आगम में जो अन्तर्विरोध परिलक्षित हो रहा था, उसका ही समाधान कर रहे थे। वे आगमों की तार्किक असंगतियों को दूर करना चाहते थे और उनका यह अभेदवाद भी उसी आगमिक मान्यता की तार्किक निष्पत्ति है, जिसके अनुसार केवलज्ञान सादि किन्तु अनन्त है। वे यही सिद्ध करते हैं कि क्रमवाद भी आगमिक मान्यता के विरोध में है।

(३) प्रो० उपाध्ये का यह कथन सत्य है कि सिद्धसेन दिवाकर का केवली के ज्ञान और दर्शन के अभेदवाद का सिद्धान्त दिगम्बर परम्परा के युगपदवाद के अधिक समीप है। हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि सिद्धसेन के अभेदवाद का जन्म क्रमवाद और युगपदवाद के अन्तर्विरोध को दूर करने हेतु ही हुआ है किन्तु यदि सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर या यापनीय होते तो उन्हें सीधे रूप में युगपदवाद के सिद्धान्त को मान्य कर लेना था, अभेदवाद के स्थापना की क्या आवश्यकता थी? वस्तुतः अभेदवाद के माध्यम से वे एक ओर केवलज्ञान के सादि-अनन्त होने के आगमिक वचन की तार्किक सिद्धि करना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर क्रमवाद और युगपदवाद की विरोधी अवधारणाओं का समन्वय भी करना चाहते थे। उनका क्रमवाद और युगपदवाद के बीच समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से यह सूचित करता है कि वे दिगम्बर या यापनीय नहीं थे। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सिद्धसेन ने क्रमवाद की श्वेताम्बर और युगपदवाद की दिगम्बर मान्यताओं का समन्वय किया है, तो उनका काल सम्प्रदायों के अस्तित्व के बाद होना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इन विभिन्न मान्यताओं का विकास पहले हुआ है और बाद में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में किसी सम्प्रदाय विशेष ने किसी मान्यता विशेष को अपनाया है। पहले मान्यताएँ अस्तित्व में आयीं और बाद में सम्प्रदाय बने। युगपदवाद भी मूल में दिगम्बर मान्यता नहीं है, यह बात अलग है कि बाद में दिगम्बर परम्परा ने उसे मान्य रखा है। युगपदवाद का सर्वप्रथम निर्देश श्वेताम्बर कहे जाने वाले उमास्वाति के **तत्त्वार्थधिगमभाष्य** में है।^{१५} सिद्धसेन के समक्ष क्रमवाद और युगपदवाद दोनों उपस्थित थे। चूँकि श्वेताम्बरों ने आगम मान्य किए थे इसलिए उन्होंने आगमिक क्रमवाद को मान्य किया। दिगम्बरों को आगम मान्य नहीं थे अतः उन्होंने तार्किक युगपदवाद को प्रश्रय दिया। अतः यह स्पष्ट है कि क्रमवाद एवं युगपदवाद की ये मान्यताएँ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के पूर्व की हैं इस प्रकार युगपदवाद और

अभेदवाद की निकटता के आधार पर सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष का सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अन्यथा फिर तो **तत्त्वार्थभाष्य**कार को भी दिगम्बर मानना होगा, किन्तु कोई भी **तत्त्वार्थभाष्य** की सामग्री के आधार पर उसे दिगम्बर मानने को सहमत नहीं होगा।

(४) पुनः आदरणीय उपाध्येजी का यह कहना कि एक **द्वात्रिंशिका** में महावीर के विवाहित होने का संकेत चाहे सिद्धसेन दिवाकर को दिगम्बर घोषित नहीं करता हो, किन्तु उन्हें यापनीय मानने में इससे बाधा नहीं आती है, क्योंकि यापनीयों को भी **कल्पसूत्र** तो मान्य था ही। किन्तु **कल्पसूत्र** को मान्य करने के कारण वे श्वेताम्बर भी तो माने जा सकते हैं। अतः यह तर्क उनके यापनीय होने का सबल तर्क नहीं है। **कल्पसूत्र** श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्व का ग्रन्थ है और दोनों को मान्य है। अतः **कल्पसूत्र** को मान्य करने से वे दोनों के पूर्वज भी सिद्ध होते हैं।

आचार्य सिद्धसेन के कुल और वंश सम्बन्धी विवरण भी उनकी परम्परा निर्धारण में सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं। **प्रभावकचरित्र** और **प्रबन्धकोश** में उन्हें विद्याधर गच्छ का बताया गया है। अतः हमें सर्वप्रथम इसी सम्बन्ध में विचार करना होगा। दिगम्बर परम्परा ने सेन नामान्त के कारण उनको सेनसंघ का मान लिया है। यद्यपि यापनीय और दिगम्बर ग्रन्थों में जहाँ उनका उल्लेख हुआ है वहाँ उनके गण या संघ का कोई उल्लेख नहीं है। **कल्पसूत्र स्थविरावली** के अनुसार आर्य सुस्थित के पाँच प्रमुख शिष्यों में स्थविर विद्याधरगोपाल एक प्रमुख शिष्य थे। उन्हीं से विद्याधर शाखा निकली। यह विद्याधर शाखा कोटिक गण की एक शाखा थी। हमारी दृष्टि में आचार्य सिद्धसेन इसी विद्याधर शाखा में हुए हैं। परवर्ती काल में गच्छ नाम प्रचलित होने के कारण ही प्रबन्धों में इसे विद्याधर गच्छ कहा गया है।

कल्पसूत्र स्थविरावली में सिद्धसेन के गुरु आर्य वृद्ध का भी उल्लेख मिलता है। इस आधार पर यदि हम विचार करें तो आर्य वृद्ध का काल देवर्धिगणि से चार पीढ़ी पूर्व होने के कारण उनसे लगभग १२० वर्ष पूर्व रहा होगा अर्थात् वे वीर निर्वाण सम्वत् ८६० में हुए होंगे। इस आधार पर उनकी आर्य स्कंदिल से निकटता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि माथुरी वाचना का काल वीर निर्वाण सं० ८४० माना जाता है इस प्रकार उनका काल विक्रम की चौथी शताब्दी निर्धारित होता है। मेरी दृष्टि में आचार्य सिद्धसेन इन्हीं आर्य वृद्ध के शिष्य रहे होंगे। अभिलेखों के आधार पर आर्य वृद्ध कोटिक गण की ब्रज्जी शाखा के थे। विद्याधर शाखा भी इसी कोटिक गण की एक शाखा थी। गण की दृष्टि से तो आर्य वृद्ध और सिद्धसेन

एक ही गण के सिद्ध होते हैं, किन्तु शाखा का अन्तर अवश्य विचारणीय है। सम्भवतः आर्य वृद्ध सिद्धसेन के विद्यागुरु हों, फिर भी इतना निश्चित है कि आचार्य सिद्धसेन का सम्बन्ध उसी कोटिकगण से है जो श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही परम्पराओं के पूर्वज हैं। ज्ञातव्य है कि उमास्वाति भी इसी कोटिक गण की उच्चनागरी शाखा में हुए थे।

हम चाहे उनके गण (वंश) की दृष्टि से विचार करें या काल की दृष्टि से विचार करें सिद्धसेन दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्पराओं के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुके थे। वे उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा में हुए हैं जो आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय के रूप में विभाजित हुई। यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख उन्हें अपनी पूर्वज धारा के एक विद्वान् आचार्य होने के कारण ही है। वस्तुतः सिद्धसेन को श्वेताम्बर या यापनीय सिद्ध करने के प्रयत्न इसलिए निरर्थक हैं कि पूर्वज धारा में होने के कारण क्वचित् मतभेदों के होते हुए भी वे दोनों के लिए समान रूप से ग्राह्य रहे हैं। श्वेताम्बर और यापनीय दोनों को यह अधिकार है कि वे उन्हें अपनी परम्परा को बताएँ किन्तु उन्हें साम्प्रदायिक अर्थ में श्वेताम्बर या यापनीय नहीं कहा जा सकता है। वे दोनों के ही पूर्वज हैं।

(७) प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने उन्हें कर्नाटकीय ब्राह्मण बताकर कर्नाटक में यापनीय परम्परा का प्रभाव होने से उनको यापनीय परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। किन्तु उत्तर-पश्चिम कर्नाटक में उपलब्ध पाँचवी, छठी शताब्दी के अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि उत्तर भारत के श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ का भी उस क्षेत्र में उतना ही मान था जितना निर्ग्रन्थ संघ और यापनीयों का था। उत्तर भारत के ये अचार्य भी उत्तर कर्नाटक तक की यात्रायें करते थे। सिद्धसेन यदि दक्षिण भारतीय ब्राह्मण भी रहे हों तो इससे यह फलित नहीं होता है कि वे यापनीय थे। उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा, जिससे श्वेताम्बर और यापनीयों का विकास हुआ है, का भी बिहार दक्षिण में प्रतिष्ठानपुर अर्थात् उत्तर पश्चिमी कर्नाटक तक निर्बाध रूप से होता रहा है। अतः सिद्धसेन का कर्नाटकीय ब्राह्मण होना उनके यापनीय होने का प्रबल प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

मेरी दृष्टि में इतना मानना ही पर्याप्त है कि सिद्धसेन कोटिक गण की उस विद्याधर शाखा में हुए थे जो कि श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज हैं।

(८) पुनः कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और वट्टकेर के मूलाचार की जो सन्मत्तिसूत्र से निकटता है, उसका कारण यह नहीं है कि सिद्धसेन दक्षिण भारत के वट्टकेर

या कुन्दकुन्द से प्रभावित हैं। अपितु स्थिति इसके ठीक विपरीत है। वड़कर और कुन्दकुन्द दोनों ही ने प्राचीन आगमिक धारा और सिद्धसेन का अनुकरण किया। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में त्रस-स्थावर का वर्गीकरण, चतुर्विध मोक्ष मार्ग की कल्पना आदि पर आगमिक धारा का प्रभाव स्पष्ट है, चाहे यह यापनीयों के माध्यम से ही उन तक पहुँचा हो। **मूलाचार** का तो निर्माण ही आगमिक धारा के **निर्युक्ति** और **प्रकीर्णक** साहित्य के आधार पर हुआ है। उस पर सिद्धसेन का प्रभाव होना भी अस्वाभाविक नहीं है। आचार्य जटिल के **वरांगचरित** में भी **सन्मति** की अनेक गाथाएँ अपने संस्कृत रूपान्तर में प्रस्तुत हैं। यह सब इसी बात का प्रमाण है कि ये सभी अपने पूर्ववर्ती-आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हैं।

प्रो० उपाध्ये का यह मानना कि महावीर का सन्मतिनाम कर्नाटक में अति प्रसिद्ध है और सिद्धसेन ने इसी आधार पर अपने ग्रन्थ का नाम सन्मति दिया होगा, अतः सिद्धसेन यापनीय हैं, मुझे समुचित नहीं लगता है। श्वेताम्बर साहित्य में भी महावीर के सन्मति विशेषण का उल्लेख मिलता है, जैसे सन्मति से युक्त होने से वे श्रमण कहे गए हैं। इस प्रकार प्रो० ए० ए० उपाध्ये ने सिद्धसेन के यापनीय होने के जो-जो प्रमाण दिये हैं वे सबल प्रतीत नहीं होते हैं।

सुश्री कुसुम पटोरिया ने जुगल किशोर मुख्तार एवं प्रो० उपाध्ये के तर्कों के साथ-साथ सिद्धसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए अपने भी कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं। वे लिखती हैं कि **सन्मतिसूत्र** का श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी आदरपूर्वक उल्लेख है। **जीतकल्पचूर्ण** में **सन्मतिसूत्र** को **सिद्धिविनिश्चय** के समान प्रभावक ग्रन्थ कहा है। श्वेताम्बर परम्परा में **सिद्धिविनिश्चय** को शिवस्वामि की कृति कहा गया है। **शाकटायन व्याकरण** में भी शिवार्य के **सिद्धिविनिश्चय** का उल्लेख है। यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाये कि ये शिवस्वामि **भगवती आराधना** के कर्ता शिवार्य ही हैं तो भी इससे इतना ही फलित होगा कि कुछ यापनीय कृतियाँ श्वेताम्बरों को मान्य थी, किन्तु इससे सिद्धसेन का यापनीयत्व सिद्ध नहीं होता है।

पुनः **सन्मतिसूत्र** में अर्द्धमागधी आगम के उद्धरण भी यही सिद्ध करते हैं कि वे उस आगमिक परम्परा के अनुसरणकर्ता हैं जिसके उत्तराधिकारी श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों हैं। यह बात हम पूर्व में ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि आगमों के अन्तर्विरोध को दूर करने के लिए ही उन्होंने अपने अभेदवाद की स्थापना की थी। सुश्री कुसुम पटोरिया ने विस्तार से **सन्मतिसूत्र** में उनके आगमिक अनुसरण की चर्चा की है। यहाँ हम उस विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि सिद्धसेन उस आगमिक धारा में ही हुए हैं जिसका अनुसरण श्वेताम्बर

और यापनीय दोनों ने किया है और यही कारण है कि दोनों ही उन्हें अपनी-अपनी परम्परा का कहते हैं।

आगे वे पुनः यह स्पष्ट करती हैं कि गुण और पर्याय के सन्दर्भ में भी उन्होंने आगमों का स्पष्ट अनुसरण किया है और प्रमाणरूप में आगम वचन उद्धृत किये हैं। यह भी उन्हें आगमिक धारा का ही सिद्ध करता है। श्वेताम्बर आगम यापनीय दोनों धारायें अर्धमागधी आगम को प्रमाण मानती हैं। सिद्धसेन के सम्मुख जो आगम थे वे देवर्द्धि वाचना के न होकर माथुरी वाचना के रहे होंगे क्योंकि देवर्द्धि निश्चित ही सिद्धसेन से परवर्ती है।

सुश्री पटोरिया ने मदनूर जिला नेल्लौर के एक अभिलेख^{१६} का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि कोटमुडुवगण में मुख्य पुष्यार्हनन्दि गच्छ में गणधर के सदृश जिननन्दी मुनीश्वर हुए हैं। उनके शिष्य पृथ्वी पर विख्यात केवलज्ञान निधि के धारक स्वयं जिनेन्द्र के सदृश दिवाकर नाम के मुनि हुए। यह सत्य है कि यह कोटिमडुवगण यापनीय है। किन्तु इस अभिलेख में उल्लेखित दिवाकर सिद्धसेन दिवाकर हैं, यह कहना कठिन है क्योंकि इसमें इन दिवाकर के शिष्य श्रीमंदिर देवमुनि का उल्लेख है जिनके द्वारा अधिष्ठित कंटकाभरण नामक जिनालय को यह दान दिया गया था। यदि दिवाकर मन्दिरदेव के गुरु हैं तो वे सिद्धसेन दिवाकर न होकर अन्य कोई दिवाकर हैं क्योंकि इस अभिलेख के अनुसार मन्दिरदेव का काल ईस्वी मन् ९४२ अर्थात् वि०सं० ९९९ है। इनके गुरु इनसे ५० वर्ष पूर्व भी माने जायें तो वे दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में ही सिद्ध होंगे जबकि सिद्धसेन दिवाकर तो किमी स्थिति में पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं हैं। अतः वे दिवाकर सिद्धसेन नहीं हो सकते हैं। दोनों के काल में लगभग ६०० वर्ष का अन्तर है। यदि इसमें उल्लेखित दिवाकर को मन्दिरदेव का साक्षात् गुरु न मानकर परम्परा गुरु मानें तो इससे उनका यापनीय होना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि परम्परा गुरु के रूप में तो गौतम आदि गणधरों एवं भद्रबाहु आदि प्राचीन आचार्यों का भी उल्लेख किया जाता है। अन्त में सिद्ध यही होता है कि सिद्धसेन दिवाकर यापनीय न होकर यापनीयों के पूर्वज थे।

सिद्धसेन श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं

सिद्धसेन को पाँचवीं शती के पश्चात् के सभी श्वेताम्बर आचार्यों ने अपनी परम्परा का माना है। अनेकशः श्वेताम्बर ग्रन्थों में श्वेताम्बर आचार्य के रूप में उनका स्पष्ट निर्देश भी है, और यह भी निर्देश है कि वे कुछ प्रश्नों पर आगमिक धारा से मतभेद रखते हैं। फिर भी कहीं भी उन्हें अपनी परम्परा से भिन्न नहीं माना गया है। अतः सभी साधक प्रमाणों की समीक्षा के आधार पर यही फलित होता है कि

वे उस उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ धारा के विद्याधर कुल में हुए हैं, जिसे श्वेताम्बर आचार्य अपनी परम्परा का मानते हैं, अतः वे श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं।

इसी प्रकार तीसरा प्रश्न 'न्यायावतार' के कृतित्व के सन्दर्भ में है। इस सम्बन्ध में मेरे और डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय के मन्तव्य में स्पष्टतः मतभेद हैं। असंग के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से 'अभ्रान्त' पद मिल जाने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि न्यायावतार जैन न्याय का प्रथम ग्रन्थ होने के नाते आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की ही रचना है। इस सम्बन्ध में मेरा तर्क निम्न है—

न्यायावतार, सन्मत्सूत्र के कर्ता सिद्धसेन की कृति है या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर विद्वान् भी मतैक्य नहीं रखते हैं। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी एवं पं० दलसुख मालवणिया ने न्यायावतार को सिद्धसेनकी कृति माना है, किन्तु एम० ए० ढाकी आदि कुछ श्वेताम्बर विद्वान् उनसे मतभेद रखते हुए उसे सिद्धर्षि की कृति मानते हैं।^{१०} डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने प्रस्तुत कृति में इस प्रश्न की विस्तृत समीक्षा की है तथा प्रो० ढाकी के मत का समर्थन करते हुए न्यायावतार को सिद्धसेन दिवाकर की कृति न मानते हुए इसे सिद्धर्षि की कृति माना है। किन्तु कुछ तार्किक आधारों पर मेरी व्यक्तिगत मान्यता यह है कि न्यायावतार भी सिद्धसेन की कृति है। प्रथम तो यह कि न्यायावतार भी एक द्वित्रिंशिका है और सिद्धसेन ने स्तुतियों के रूप में द्वित्रिंशिकाएँ ही लिखी हैं। उनके परवर्ती आचार्य हरिभद्र ने अष्टक, षोडशक एवं विशिंकायें तो लिखीं किन्तु द्वात्रिंशिका नहीं लिखी। दूसरे न्यायावतार में आगम युग के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों की ही चर्चा हुई है, दर्शनयुग में विकसित जैन परम्परा में मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क की प्रमाण के रूप में मूल ग्रन्थ में कोई चर्चा नहीं है जबकि परवर्ती सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्य एवं न्यायावतार के टीकाकार सिद्धर्षि स्वयं भी इन प्रमाणों की चर्चा करते हैं। यदि सिद्धर्षि स्वयं ही इसके कर्ता होते तो कम से कम एक कारिका बनाकर इन तीनों प्रमाणों का उल्लेख तो मूलग्रन्थ में अवश्य करते। पुनः सिद्धर्षि की टीका में एक भी ऐसे लक्षण नहीं मिलते हैं, जिससे वह स्वोपज्ञ सिद्ध होती है। इस कृति में कहीं भी उत्तम पुरुष के प्रयोग नहीं मिलते। यदि यह उनकी स्वोपज्ञ टीका होती तो इसमें उत्तम पुरुष के कुछ तो प्रयोग मिलते।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रयुक्त 'अभ्रान्त' पद तथा समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार के जिस श्लोक को लेकर यह शंका की जाती है कि न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं है— अन्यथा वे धर्मकीर्ति और समन्तभद्र के परवर्ती

सिद्ध होंगे। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** समन्तभद्र की कृति है या नहीं। उसमें जहाँ तक 'अभ्रान्त' पद का प्रश्न है— प्रो०टूची के अनुसार यह धर्मकीर्ति के पूर्व भी बौद्ध न्याय में प्रचलित था। अनुशीलन करने पर असंग के गुरु मैत्रेय की कृतियों में एवं स्वयं असंग की कृति **अभिधर्म समुच्चय** में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग हुआ है। **अभिधर्म समुच्चय** में असंग स्वयं लिखते हैं—

प्रत्यक्षं स्व सत्प्रकाशाभ्रान्तोऽर्थः।^{११}

ज्ञातव्य है कि असङ्ग वसुबन्धु के बड़े भाई थे और इनका काल लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी है। अतः सिद्धसेन दिवाकर की कृति **न्यायावतार** में अभ्रान्त पद को देखकर उसे न तो परवर्ती माना जा सकता है और न यह माना जा सकता है कि वह धर्मकीर्ति से परवर्ती किसी अन्य सिद्धसेन की कृति है। यदि बौद्ध न्याय में अभ्रान्त पद का उल्लेख तीसरी-चौथी शताब्दी के ग्रन्थों में उपलब्ध है तो फिर **न्यायावतार** (चतुर्थशती) में अभ्रान्त पद के प्रयोग अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता है। डॉ० पाण्डेय ने भी अपनी इस कृति में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है फिर भी वे **न्यायावतार** को सिद्धसेन की कृति मानने में संकोच कर रहे हैं?

उनका दूसरा तर्क यह है कि **न्यायावतार** की अनुमान-प्रमाण की परिभाषा पर दिगम्बर विद्वान् पात्र केसरी का प्रभाव है। उनके अनुसार **न्यायावतार** की २२वीं कारिका का पात्र केसरी की **त्रिलक्षण कदर्थन** की कारिका से आंशिक साम्य है, लेकिन इस आधार पर यह मानना की पात्र केसरी (७वीं शती) का प्रभाव **न्यायावतार** पर है मुझे तर्कसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसके विपरीत यह भी तो माना जा सकता है कि सिद्धसेन दिवाकर का ही अनुसरण पात्र केसरी ने किया है।

तीसरे जब **न्यायावतार** के वार्तिक में शान्तिसूरि स्पष्ट रूप से 'सिद्धसेनार्क सूत्रितम्' (**न्यायावतारसूत्र वार्तिक** १/१) ऐसा स्पष्ट उल्लेख करते हैं तो फिर यह संदेह कैसे किया जा सकता है कि **न्यायावतार** के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर पदवी वाले सिद्धसेन नहीं हैं। यदि **न्यायावतार** सिद्धर्षि की कृति होती तो वार्तिककार शान्त्याचार्य जो उनसे लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् हुए हैं, यह उल्लेख अवश्य करते। उनके द्वारा सिद्धसेन के लिए 'अर्क' विशेषण का प्रयोग यही सिद्ध करता है कि **न्यायावतार** के कर्ता अन्य कोई सिद्धसेन न होकर सिद्धसेन दिवाकर ही हैं। क्योंकि अर्क का मतलब स्पष्ट रूप से दिवाकर (सूर्य) ही है।

पुनः **न्यायावतार** की कारिकाओं की समन्तभद्र की कारिकाओं में समरूपता दिखाई देने पर भी **न्यायावतार** को सिद्धसेन दिवाकरकृत मानने पर बाधा नहीं

आती, क्योंकि समन्तभद्र की आप्तमीमांसा आदि कृतियों में सिद्धसेन के **सन्मतितर्क** का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। इनमें न केवल भावगत समानता है, अपितु प्राकृत और संस्कृत के शब्द रूपों को छोड़कर भाषागत भी समानता है और यह निश्चित है कि सिद्धसेन दिवाकर समन्तभद्र से पूर्ववर्ती हैं। अतः सिद्धसेन की कृतियों की समन्तभद्र की कृतियों में समरूपता दिखाई देने के आधार पर यह अनुमान कर लेना उचित नहीं होगा कि **न्यायावतार** सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं है। समन्तभद्र ने जब सिद्धसेन के **सन्मतितर्क** से **आप्तमीमांसा** में अनेक श्लोकों को ग्रहण किया है तो यह भी सम्भव है कि उन्होंने **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** (जिसका समन्तभद्रकृत होना भी विवादास्पद है) में भी सिद्धसेन के **न्यायावतार** से कुछ श्लोक अभिगृहीत किये हों।

पुनः जब **न्यायावतार** का दूसरा व चौथा पूरा का पूरा श्लोक याकनीसूनु हरिभद्र के **अष्टकप्रकरण** और **षड्दर्शनसमुच्चय** में पाया जाता है तो फिर **न्यायावतार** को हरिभद्र के बाद होने वाले सिद्धर्षि की वृत्ति कैसे माना जा सकता है? इससे यह स्पष्ट है कि **न्यायावतार** की रचना हरिभद्र से पूर्व हो चुकी थी फिर इमें सिद्धर्षि की कृति कैसे माना जा सकता है? अतः डॉ० पाण्डेय और प्रो० ढाकी का यह मानना कि **न्यायावतार** मूल सिद्धर्षि की कृति है किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है। अपने पक्ष के बचाव में डॉ० पाण्डेय का यह तर्क कि ये श्लोक सिद्धसेन की लुप्त **प्रमाण द्वात्रिंशिका** के हों, अधिक वजनदार नहीं लगता है। जब **न्यायावतार** के ये श्लोक स्पष्ट रूप से हरिभद्र के **अष्टकप्रकरण** और **षड्दर्शन समुच्चय** से मिल रहे हों तो फिर द्राविड़ी प्राणायाम के द्वारा यह कल्पना करना कि वे किमी लुप्त **प्रमाणद्वात्रिंशिका** के श्लोक होंगे, युक्तिसंगत नहीं है। जब सिद्धसेन के इस **न्यायावतार** में अभी ३२ श्लोक हैं तो फिर सम्भव यह भी है कि इसका ही अपर नाम **प्रमाणद्वात्रिंशिका** हो? पुनः जब हरिभद्र के द्वारा **न्यायावतार** पर वृत्ति लिखे जाने पर स्पष्ट सूचनायें प्राप्त हो रही हैं तो फिर यह कल्पना करना कि वे हरिभद्र प्रथम न होकर कोई दूसरे हरिभद्र होंगे मुझे उचित नहीं लगता। जब याकनीसूनु हरिभद्र **न्यायावतार** की कारिका अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर रहे हैं तो यह मानने में क्या बाधा है कि वृत्तिकार भी वे ही हों?

न्यायावतार की विषय वस्तु से यह स्पष्ट है कि वह जैन प्रमाण शास्त्र की आद्य रचना है। उसमें अकलंक के काल में विकसित तीन प्रमाणों यथा— स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क या ऊह का उपलब्ध नहीं होना तथा आगमिक तीन प्रमाणों की सूचना प्राप्त होना यही प्रमाणित करता है कि वह अकलंक (८वीं शती) से पूर्व का ग्रन्थ है। सिद्धर्षि का काल अकलंक से परवर्ती है और उन्होंने अपने

न्यायावतार की वृत्ति में स्पष्टतः इन प्रमाणों की चर्चा की है— जबकि आठवीं शती तक के किसी श्वेताम्बर आचार्य में इनकी चर्चा नहीं है, यहाँ तक कि हरिभद्र भी इन प्रमाणों की चर्चा नहीं करते हैं— पूर्ववर्ती श्वेताम्बराचार्य आगमिक तीन प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द की चर्चा करते हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि **न्यायावतार**, आगमिक तीन प्रमाणों का ही उल्लेख करने के कारण सिद्धसेन दिवाकर की ही कृति है। यदि यह सिद्धर्षि की कृति होती तो निश्चय ही मूल कारिका में इनकी चर्चा होनी थी। पुनः डॉ० पाण्डेय का यह कथन की स्वोपज्ञवृत्ति में कतिपय विषय बिन्दु, ऐसे मिलते हैं जिनका उल्लेख मूल में नहीं है परन्तु भाष्य या वृत्ति में होता है किन्तु मैं डॉ० पाण्डेय के इस तर्क से सहमत नहीं हूँ क्योंकि यदि **न्यायावतार** सिद्धर्षि की वृत्ति होती तो वे कम से कम यह तर्क नहीं देते कि इस **न्यायावतार** प्रकरण में अनुमान से ऊह को पृथक् करके नहीं दिखाया गया क्योंकि यह प्रकरण संक्षिप्त रुचि के जीवों के अनुग्रह के लिए लिखा गया। इस प्रसंग में यदि सिद्धर्षि ने स्वयं ही मूलग्रंथ लिखा होता तो अवश्य यह लिखते कि मैंने यह प्रकरण संक्षिप्त रुचि वाले लोगों के लिए बनाया। सिद्धर्षि ने कहीं भी इस तथ्य का निर्देश नहीं किया है कि मूलग्रंथ मेरे द्वारा बनाया गया है। अतः यह कल्पना करना निराधार है कि मूल **न्यायावतार** सिद्धर्षि की कृति है और उस पर उन्होंने स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है।

यह सत्य है कि उस युग में स्वोपज्ञ टीका या वृत्ति लिखे जाने की प्रवृत्ति प्रचलन में थी किन्तु इस सिद्धर्षि की वृत्ति से कहीं भी फलित नहीं होता है कि वह स्वोपज्ञ है। पुनः स्वोपज्ञवृत्ति में मूल में वर्णित विषयों का ही स्पष्टीकरण किया जाता है, उसमें नये विषय नहीं आते। उदाहरण के रूप में **तत्त्वार्थसूत्र** मूल में गुणस्थान सिद्धान्त की कोई चर्चा नहीं है तो उसके स्वोपज्ञ भाष्य में भी किसी भी स्थान में गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा नहीं की गयी किन्तु अन्य आचार्यों के द्वारा जब उस पर टीकायें लिखी गयीं तो उन्होंने विस्तार से गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा की। इससे यही फलित होता है कि **न्यायावतार** की मूल कारिकायें सिद्धर्षि की कृति नहीं हैं। यदि मूलकारिकाएँ भी सिद्धर्षि की कृति होतीं तो उनमें नैगमादि नयों एवं स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तर्क आदि प्रमाणों की कहीं कोई चर्चा होनी थी।

नय विवेचन के सन्दर्भ में डॉ० पाण्डेय का यह तर्क भी समीचीन नहीं है कि “यदि सिद्धर्षि सिद्धसेन के ग्रन्थ पर वृत्ति लिखे होते तो जो सिद्धसेन को अभीष्ट नहीं है या तो उसका उल्लेख नहीं करते या उल्लेख करते भी तो यह कहकर कि मूलकार इसे नहीं मानता”। यहाँ उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि टीकाकारों के द्वारा अपनी नवीन मान्यता को प्रस्तुत करते समय कहीं भी यह लिखने की प्रवृत्ति

नहीं रही है कि वे आवश्यक रूप से जो मूलग्रन्थकार का मंतव्य नहीं है उसका उल्लेख करें। सिद्धर्षि की **न्यायावतार** वृत्ति में नयों की जो चर्चा है वह किसी मूल कारिका की व्याख्या न हो करके एक परिशिष्ट के रूप में की गयी चर्चा ही है क्योंकि मूल ग्रन्थ की २९वीं कारिका में मात्र 'नय' शब्द आया है उसमें कहीं भी नय कितने हैं यह उल्लेख नहीं है, यह टीकाकार की अपनी व्याख्या है और टीकाकार के लिए यह बाध्यता नहीं होती है कि वह उन विषयों की चर्चा न करे जो मूल नहीं है। इतना निश्चित है कि यदि सिद्धर्षि की वृत्ति स्वोपज्ञ होती तो वे मूल में कहीं न कहीं नयों की चर्चा करते। इससे यही फलित होता है कि मूल ग्रन्थकार और वृत्तिकार दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं।

टीका में नवीन-नवीन विषयों का समावेश यही सिद्ध करता है कि **न्यायावतार** की सिद्धर्षि की वृत्ति स्वोपज्ञ नहीं है। जहाँ तक डॉ० पाण्डेय के इस तर्क का प्रश्न है कि वृत्तिकार ने मूलग्रन्थकार का निर्देश प्रारम्भ में क्यों नहीं किया इस सम्बन्ध में मेरा उत्तर यह है कि जैन परम्परा में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ वृत्तिकार मूलग्रन्थकार से भिन्न होते हुए भी मूल ग्रन्थकार का निर्देश नहीं करता है। उदाहरण के रूप में **तत्त्वार्थसूत्र** की **सर्वार्थसिद्धि** टीका में कहीं भी यह निर्देश नहीं है कि वह उमास्वाति के मूल ग्रन्थ पर टीका लिख रहा है। ये लोग प्रायः केवल ग्रन्थ का निर्देश करके ही संतोष कर लेते थे, ग्रन्थकार का नाम बताना आवश्यक नहीं समझते थे क्योंकि वह जनसामान्य में ज्ञात ही होता था। अतः यह मानना कि **न्यायावतार** सिद्धसेन दिवाकर की कृति न होकर सिद्धर्षि की कृति है और उस पर लिखी गयी **न्यायावतार** वृत्ति स्वोपज्ञ है उचित प्रतीत नहीं होता।

न्यायावतार सिद्धसेन की कृति है इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण तो यह है कि मल्लवादी ने अपने ग्रन्थ **नयचक्र** में स्पष्ट रूप से सिद्धसेन को **न्यायावतार** का कर्ता कहा है। मुझे ऐसा लगता है कि प्रतिलिपिकारों के प्रमाद के कारण ही कहीं **न्यायावतार** की जगह **नयावतार** हो गया है। प्रतिलिपियों में ऐसी भूलें सामान्यतया हो ही जाती हैं।

जहाँ तक सिद्धसेन की उन स्तुतियों का प्रसङ्ग है जिनमें महावीर के विवाह आदि के संकेत हैं, दिगम्बर विद्वानों की यह अवधारणा कि यह किसी अन्य सिद्धसेन की कृति है उचित नहीं है। केवल अपनी परम्परा से समर्थित न होने के कारण किसी अन्य सिद्धसेन की कृति कहें, यह उचित नहीं है।

उपरोक्त दो प्रश्नों पर लेखक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय से मतभेद रखते हुए भी मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उन्होंने इस कृति का प्रणयन पक्ष व्यामोह से

ऊपर उठकर तटस्थ दृष्टि से किया है। यह कृति सिद्धसेन दिवाकर के व्यक्ति एवं कृतित्व को उजागर करने में सफल सिद्ध होगी यह मेरा पूर्ण विश्वास है। उन्होंने कतिपय बिन्दुओं पर मतवैभिन्न्य होते हुए भी इस कृति के लिए भूमिका लिखने का आग्रह किया, अतः मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ तथा यह अपेक्षा करता हूँ कि भविष्य में भी वे जैन विद्या के ग्रंथ भण्डार को अपनी नवीन-नवीन कृतियों से आपूरित करते रहेंगे।

२८ नवम्बर, १९९०
वाराणसी

डॉ० सागरमल जैन

संदर्भ

१. देखें— सन्मति प्रकरण—सम्पादक, पं० सुखलाल जी संघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, प्रस्तावना, पृष्ठ ६ से १६।
- २अ. दंसणगाही—दंसणणाणप्यभावगणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय—संमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः। — निशीथचूर्णि, भाग १, पृष्ठ १६२।
दंसणप्यभावगाण सत्थाण सम्मदियादिसुत्तणाणे य जो विसारदो णिस्सकियसुत्तथो त्ति वुत्तं भवति। — वही भाग ३, पृष्ठ २०२।
- ब. आयरिय सिद्धसेणेण सम्मई ए पइड्ढि अजसेणं।
दूसमणिसादिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥
— पंचवस्तु (हरभिद्र) १०४८
- स. श्रीदशाश्रुतस्कन्ध मूल, निर्युक्ति, चूर्णिसह-पृ० १६ (श्रीमणिविजय ग्रन्थमाला नं० १४ सं० २०११) (यहाँ सिद्धसेन को गुरु से भिन्न अर्थ करने वाला भाव-अभिनय का दोषी बताया गया है)।
- द. पूर्वाचार्य विरचितेषु सन्मति-नयावतारादिषु ।
— द्वादशारं नयचक्रम्, (मल्लवादि) भावनगरस्या श्री आत्मानन्द सभा, १९८८ तृतीय विभाग, पृ० ८८६।
- ३अ. अणेण सम्मइसुत्तेणसह कथमिदं वक्खाणं ण विरूज्जदे ।
(ज्ञातव्य है कि इसक पूर्व सन्मतिसूत्र की गाथा ६ उद्धृत है)
— धवला, टीका समन्वित षट्खण्डागम १/१/१ पुस्तक १, पृष्ठ १६।

ब. जगत्प्रसिद्ध बोधस्य, वृषभस्येव निस्तुषाः ।

बोधयति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

—हरिवंशपुराण (जिनसेन) १/३०।

स सिद्धसेनोऽभय भीमसेनकौ गुरु परौ तौ जिनशातिषेणकौ।

— वही, ६६/२९।

स. प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः ।

सिद्धसेन कविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुरः ॥ - आदिपुराण (जिनसेन) १/४२।

द. आसीदिन्द्रगुरुर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः ।

तस्माल्लक्ष्मणसेन सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतः ॥

— पद्मचरित (रविषेण) १२३/१६७।

ज्ञातव्य है कि **हरिवंशपुराण** के अन्त में पुत्राटसंघीय जिनसेन की अपनी गुरुपरम्परा में उल्लिखित सिद्धसेन तथा रविषेण द्वारा **पद्मचरित** के अन्त में अपनी गुरु परम्परा में उल्लिखित दिवाकर यति—ये दोनों सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं। यद्यपि **हरिवंश** के प्रारम्भ में तथा **आदिपुराण** के प्रारम्भ में पूर्वाचार्यों का स्मरण करते हुए जिन सिद्धसेन का उल्लेख किया गया है वे सिद्धसेन दिवाकर ही हैं।

इ. देखें— **जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश**, जुगलकिशोर मुख्तार, पृष्ठ ५००-५८५।

फ. **धवला** और **जयधवला** में **सन्मतिसूत्र** की कितनी गाथायें कहाँ उद्धृत हुई, इसका विवरण पं० सुखलालजी ने **सन्मतिप्रकरण** की अपनी भूमिका में किया है। देखें — **सन्मतिप्रकरण 'भूमिका'**, पृष्ठ ५८।

ज. इसी प्रकार जटिल के **वरांगचरित** में भी **सन्मतितर्क** की अनेक गाथाएँ अपने संस्कृत रूपान्तर में पायी जाती हैं। इसका विवरण मैंने इसी ग्रन्थ के इसी अध्याय से **वरांगचरित्र** के प्रसङ्ग में किया है।

4. Siddhasenaś Nyāyāvātāra and other works, A.N.Upadhye. Jaina Sahitya Vikas Mandal, Bombay, 'Introduction' pp. XIV-XVII

५. **यापनीय और उनका साहित्य** — डॉ० कुसुमपटोरिया, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी-१९८८, पृ० १४३/१४८।

६. देखें— **जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश**, पं० जुगल किशोर मुख्तार, पृष्ठ ५८०-५८२।

७. देखें—**प्रभावकचरित्त**—प्रभाचन्द्र—सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ५४-६१।
प्रबन्धकोश (चतुर्विंशतिप्रबन्ध), राजशेखरसूरि-सिंधी जैन ज्ञानपीठ, पृ० १५-२१।
प्रबन्ध चिन्तामणि, मेरुतुंग, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, पृ० ७-९।
८. **प्रभावकचरित** - वृद्धवादिस्मृतिचरितम्, पृ० १०७-१२०।
९. 'अनेकजन्मान्तरभग्नमानःस्सरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते'--पंचम **द्वात्रिंशिका** ३६।
१०. देखें— **सन्मतिसूत्र** २/४, २/७, ३/४६।
११. **जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश** - पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पृ० ५२७-५२८।
१२. **सन्मतिप्रकरण**— सम्पादक पं० सुखलालजी एवं बेचरदास जी ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ० ३६-३७।
13. Siddhasena's Nyāyāvātār and other works. A.N. Upadhye-- Introduction -- pp. xiii to xviii.
१४. सुत्तासायणभीरूहि तं च दद्व्वयं होई ।
 संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि ।।
 सुत्तम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं ।
 केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाई ।।
- सन्मतिप्रकरण, २/७-८।
१५. सम्भिन्न ज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत् सर्वभाव ग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति। - **तत्त्वार्थभाष्य** १/३१।
१६. कल्पसूत्र।
१७. जैन शिलालोख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक १४३।
18. 'The Date and authorship of Nyāyāvātra, M.A. Dhaky, 'Nirgrantha' Edited by M.A. Dhaky & Jitendra Shah, Sharadaben Chimambhai Educational Research Centre, Ahmedabad-4.
१९. **अधिधर्मसमुच्चय**, विश्वभारती शांतिनिकेतन १९५०, सांख्य परिच्छेद, पृ० १०५।



अध्याय-१

सिद्धसेन दिवाकर और उनका समय

जैन परम्परा में तर्क विद्या एवं तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मय के अमिट हस्ताक्षर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर एक उच्चकोटि के साहित्यकार, प्रकृष्टवादी स्वतन्त्र दार्शनिक एवं चिन्तक थे। उनके उदार व्यक्तित्व सूक्ष्मचिन्तन एवं गम्भीर दार्शनिक दृष्टि ने सम्पूर्ण जैन समाज को प्रभावित किया, यही कारण है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्परा के विद्वान आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में आचार्य सिद्धसेन का विशिष्ट आदरभाव सहित स्मरण किया है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ **पंचवस्तुक**^१ में सिद्धसेन को दुस्सम कालरात्रि में दिवाकर के समान प्रकाशक माना है एवं उन्हें श्रुतकेवली तुल्य सम्मान दिया है।

हरिवंश पुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन ने सिद्धसेन की सूक्तियों को तीर्थंकर ऋषभदेव की सूक्तियों के समान माना है।^२ **आदिपुराण** में उन्होंने कहा है कि 'वे सिद्धसेन जयवंत हों जो प्रवादी रूपी हाथियों के झुण्ड के लिये सिंह के समान हैं। नैगमादि नय ही जिनके केसर (अयाल-गरदन पर के बाल) तथा अस्ति नास्ति आदि विकल्प ही जिनके तीक्ष्ण नाखून हैं।'^३

कालिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धसेन की प्रतिभा के सामने नतमस्तक होते हुए कहा है कि—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।

तथाऽपि यूथाधिपतेः पथिस्थः स्वलदगतितस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥^४

श्री मुनिकल्याण कीर्ति ने अपने **यशोधरचरित** में आचार्य को महाप्रभावशाली कवि की संज्ञा देते हुए कहा है कि—

मदुक्ति कल्पलतिकां सिञ्चन्तः करुणामृतः ।

कवयः सिद्धसेनाद्या वर्धयन्तु हृदिस्थिताः ॥

अर्थात् 'हृदय में स्थित श्री सिद्धसेन जैसे कवि मेरी उक्ति रूपी छोटी सी कल्पलता को करुणामृत से सींचते हुए उसे वर्धित करें, जिससे मैं सिद्धसेन जैसे

महाप्रभावशाली कवियों को अधिकाधिक रूप से हृदय में धारण करके अपनी वाणी को उत्तरोत्तर पुष्ट और शक्ति सम्पन्न बनाने में समर्थ होऊँ।

इसके अतिरिक्त 'राजवार्तिक' के कर्ता भट्ट अकलंक (ई०सं०७२०-७८०) 'सिद्धिविनिश्चय' के कर्ता अनन्तवीर्य (१०वीं शती), पार्श्वनाथचरित के कर्ता वादिराजसूरि (११वीं शती) स्याद्वादरत्नाकर के कर्ता वादिदेवसूरि आदि दिगम्बर विद्वानों एवं प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के कर्ता वादिदेवसूरि (ई०सं० ११४३-१२२६), प्रभावकचरित के कर्ता प्रभाचन्द्राचार्य (ई०सं०७९७-८०२), 'अममचरित' के रचनाकार आचार्य मुनिरत्नसूरि (ई०सं०१२२४) आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने आचार्य सिद्धसेन के प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

सिद्धसेन नाम के अनेक आचार्य जैनपरम्परा में हुए हैं।^{१०} उनमें 'दिवाकर' पद विशेषण से विभूषित सिद्धसेन के इस पद विशेष का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य में हरिभद्र सूरि (ई०सं०७४०-७८५) के पंचवस्तुक^{११} में हुआ है जिसमें उन्हें दुःषमाकालरूप रात्रि के लिये दिवाकर 'सूर्य' के समान होने से दिवाकर की आख्या को प्राप्त हुआ लिखा है। इसके बाद से ही यह विशेषण सिद्धसेन के लिये प्रचलित हुआ होगा। क्योंकि श्वेताम्बर चूर्णियों एवं मल्लवादी (ई०सं०५२५-५७५) के द्वादशारनयचक्र जैसे प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ सिद्धसेन का नामोल्लेख है, वहाँ 'दिवाकर' विशेषण का प्रयोग नहीं पाया जाता। हरिभद्र के बाद ११वीं शती के विद्वान् अभयदेवसूरि (१२वीं शती) ने सन्मति टीका के प्रारम्भ में उन्हें दुःषमाकालरात्रि के अंधकार को दूर करने वाले दिवाकर के अर्थ में अपनाया है।^{१२} इसके अतिरिक्त विक्रम की १३वीं शताब्दी (१२५२) के ग्रन्थ अममचरित, १४वीं शती के 'समरादित्यकथा' एवं १२वीं, १३वीं शती के ही वादिदेवसूरिकृत 'स्याद्वादरत्नाकर' में सिद्धसेन का 'दिवाकर' विशेषण के साथ उल्लेख पाया जाता है।^{१३}

समय

आचार्य सिद्धसेन का समय निर्विवाद नहीं है। उनका समय निश्चित करने के लिये तीन साधन उपलब्ध हैं— (१) उनकी कृतियाँ, (२) जैन परम्परा एवं (३) निश्चित समय वाले लेखकों द्वारा किये गये उल्लेख।

इनमें हम अन्तिम साधन का प्रयोग सर्वप्रथम करेंगे— विक्रम की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने वाले आचार्य हरिभद्र ने अपने 'पंचवस्तु' मूल एवं टीका में 'सम्मइ' अथवा सन्मति का उल्लेख किया है और उसके कर्ता के रूप में दिवाकर के नाम का उल्लेख किया है, साथ ही उन्हें श्रुतकेवली जैसे विशेषण से भी अलंकृत

किया है।^९ इस तथ्य के आधार पर उनका समय आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से तो पहले मानना ही होगा।

जैन आगमों पर चूर्णि नाम की प्रसिद्ध प्राकृत टीकाएँ हैं जिनका समय विक्रम की चौथी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक का है। विक्रम सं० ७३३ अर्थात् ई० ६७६ में जिनदासगणिमहत्तर द्वारा रचित **निशीथसूत्र** की चूर्णि में **सन्मति** और उसके कर्ता सिद्धसेन के बारे में तीन उल्लेख^{१०} मिलते हैं—

(१) प्रथम उल्लेख में कहा गया है कि **सिद्धिविनिश्चय**, **सन्मति** आदि दर्शनप्रभावक शास्त्रों को सीखने वाला साधु कारणवश यदि अकल्पित वस्तु का सेवन करे तो उसे अकल्पित सेवन के लिए प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता।

(२) दूसरे उल्लेख का तात्पर्य यह है कि 'दर्शन प्रभावक शास्त्र में विशारद एवं उन्तमार्थ (अनशन) प्राप्त साधु पर भी सूत्र का विच्छेद न हो, इस दृष्टि से सीखने जाना पड़े तो जाने की अनुमति है।'^{११}

(३) तीसरे उल्लेख में कहा गया है कि जैसे—सिद्धसेन आचार्य ने '**योनिप्राभृत**' आदि द्वारा घोड़े बनाए।'^{१२}

इन तीनों उल्लेखों में मुख्य रूप से दो बातें स्पष्ट परिलक्षित होती हैं—एक तो यह कि **सन्मतितर्क** जिनदासगणिमहत्तर के समय में दर्शनप्रभावक ग्रन्थों में गिना जाता था और यहाँ तक कि उसका अभ्यासी कारणवश दोष सेवन करे तो भी वह प्रायश्चित्त भागी का नहीं समझा जाता था और **सन्मति** का अभ्यासी श्रमण शास्त्रग्रहणार्थ विरोधी राज्य में भी जा सकता था। दूसरी बात जो स्पष्ट होती है वह यह कि जिनदासगणिमहत्तर के समय में किसी सिद्धसेन आचार्य के द्वारा मन्त्र-शक्ति से घोड़ी के सर्जन की दन्तकथा मान्य हो चुकी थी।

सिद्धसेन की अश्वसर्जक^{१३} रूप में प्रसिद्धि और **सन्मति** की दर्शनप्रभावक ग्रन्थों में ख्याति यह स्पष्ट कर देती है कि सिद्धसेन जिनदास से भी पहले हुए हैं। परन्तु कितने पहले हुए यह प्रश्न विचारणीय रहता है। प्रस्तुत चूर्णि जिस भाष्य पर है, वह भाष्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (सातवीं शती उत्तरार्ध) का है। जिनभद्र एवं उनकी आगमिक परम्परा के उत्तराधिकारी जिनदास, जिनभद्र की प्रतिस्पर्धी दूसरी परम्परा के विद्वान् का तथा उनकी कृतियों का अतिमानपूर्वक उल्लेख करते हैं। इस आधार पर यह फलित होता है कि सिद्धसेन जिनभद्र के समकालीन तो रहे ही होंगे। जिनदास के द्वारा सिद्धसेन की कृतियों का आदरपूर्वक उल्लेख करने की बात यह दर्शाती है कि जिनदास एवं सिद्धसेन में कम से कम दो सौ वर्ष का अन्तर

रहा होगा। और इस आधार पर सिद्धसेन का समय पांचवी शताब्दी के आस-पास ठहरता है।

परम्परा के अनुसार जब हम आचार्य सिद्धसेन के कालनिर्णय पर विचार करते हैं, तो देखते हैं कि सभी परम्पराएँ सिद्धसेन को विक्रम का समकालीन एवं उज्जयिनी का निवासी मानती हैं परन्तु ये विक्रम कौन थे? यह भारतीय इतिहास का विवादग्रस्त प्रश्न है। इससे सिद्धसेन के सही समय निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती। स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण^{१४} विक्रम की सभा के नवरत्न वाले बार्डसर्वे प्रकरण के दसवें श्लोक में आने वाले 'क्षपणक' को सिद्धसेन दिवाकर मानकर और विक्रम को मालवा का यशोधर्मदेव समझकर सिद्धसेन का काल ई० ५३० के आस-पास रखते हैं। परन्तु यह तथ्य निम्न आधारों पर अतर्कसंगत लगता है—प्रथमतः, जैसा कि पूर्व पंक्तियों में बताया गया है कि विक्रम नाम का राजा कब हुआ यह प्रश्न विवाद से परे नहीं है। इस सन्दर्भ में श्री कल्याण विजय जी ने 'नागरी प्रचारणी पत्रिका' में प्रकाशित अपने वीरनिर्वाण विषयक लेख में कितने ही विचारणीय प्रमाण देकर जैनों में प्रसिद्ध विक्रमादित्य, बलमित्र हैं ऐसा कहा है; और बलमित्र ने शकों को हराकर तथा गर्दभिल्ल को मारकर वीर निर्वाण सं० ४५३ में उज्जयिनी की गद्दी ली थी और १७ वर्ष के पश्चात् अर्थात् वीर निर्वाण सं० ४७० में विक्रम संवत् चलाया था, ऐसा वे लिखते हैं। इस आधार पर सिद्धसेन प्रथम शती के विद्वान् सिद्ध होंगे किन्तु यह मत समीचीन नहीं है, तात्पर्य यह कि विक्रम से उनकी समकालीनता सिद्धसेन दिवाकर का समय निश्चित करने में उपयोगी नहीं हो सकती।^{१५}

दूसरे, डॉ० विद्याभूषण नवरत्न वाले ज्योतिर्विदाभरण^{१६} के श्लोक को ऐतिहासिक मानकर कालिदास आदि नौ रत्नों को समकालीन मानते हैं किन्तु इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता।

तीसरे, क्षपणक से सिद्धसेन दिवाकर ही उद्दिष्ट हैं, यह सुनिश्चित प्रमाणों के अभाव में अतर्कसंगत एवं नितान्त कल्पित लगता है।

इस सन्दर्भ में डॉ० कुमारी शालोट क्राउजे ने विक्रम स्मृति ग्रन्थ^{१७} में गहन विचार किया है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी गुणवचनद्वात्रिंशिका' में जिस पराक्रमी राजा के गुणों का वर्णन किया है, वह कौन हो सकता है, इसकी सूक्ष्म समीक्षा करने पर वह ऐसे निर्णय पर आई हैं कि वह राजा समुद्रगुप्त (ई० ३३०-३७५) हैं। पं० सुखलाल संघवी और बेचरदासजी ने संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य एवं सिद्धसेन दिवाकर का समकालीन होना असम्भव बताया है^{१८} और सिद्धसेन को

विक्रमादित्य पद से विभूषित किसी गुप्तवंशीय राजा के समकालीन होने का अनुमान किया है। जिससे सिद्धसेन का समय विक्रम की चौथी-पाँचवीं शताब्दी मानने का ही समर्थन होता है।

जैन आगम में मुख्य आचार्यों की काल गणना के लिए जो पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं, उनके आधार पर देखें तो वि०सं० १३३४ के प्रभाचन्द्र के **प्रभावकचरित्र** में सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा विस्तार से दी है। विद्याधर आमनाय में पादलिप्त कुल में स्कंदिलाचार्य हुए। मुकुन्द नामक एक ब्राह्मण उनका शिष्य हुआ जो बाद में वृद्धवादी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सभी जैन परम्पराएँ सिद्धसेन दिवाकर को इसी वृद्धवादी का शिष्य मानती हैं। इस आधार पर जाँच करने से पता चलता है कि माथुरी आगम वाचना के प्रणेता स्कन्दिलाचार्य का समय वि०सं० ३७० के आस-पास का होना चाहिए क्योंकि वीर निर्वाण सं० ८४० अर्थात् विक्रम सम्वत् ३७० में वाचना हुई थी और चूँकि सिद्धसेन स्कंदिलाचार्य की दूसरी पीढ़ी में हैं, इसलिए इनका समय विक्रम की चौथी-पाँचवीं शताब्दी मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

पण्डित सुखलाल जी संघवी ने अपने एक लेख जो 'सिद्धसेनदिवाकरना समयनोप्रश्न'^{१९} नाम से **भारतीय विद्या** के तृतीय भाग (श्री बहादुर सिंह जी सिंघी स्मृति ग्रन्थ) में प्रकाशित हुआ है, में सिद्धसेन के समय को पाँचवीं शताब्दी मानते हुए अपनी मान्यता के समर्थन में दो मुख्य प्रमाणों का उल्लेख किया है जो निम्न हैं—

(१) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने ग्रन्थ '**विशेषावय्यकभाष्य**' में जो विक्रम सम्वत् ६६६ में बनकर समाप्त हुआ और लघुग्रन्थ '**विशेषणवती**' में सिद्धसेन दिवाकर के उपयोगाभेदवाद की तथा '**सन्मतितर्क**' के टीकाकार मल्लवादी के उपयोग-यौग-पदवाद की विस्तृत समालोचना की है। इससे तथा मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के उपलब्ध प्रतीकों में दिवाकर का सूचन मिलने और जिनभद्रगणि का सूचन न मिलने से मल्लवादी जिनभद्र से पूर्ववर्ती एवं सिद्धसेन मल्लवादी से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इस आधार पर मल्लवादी को यदि विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वाद्ध में मान लिया जाय तो सिद्धसेन का समय जो लगभग विक्रम की पाँचवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है, उचित है।

(२) पूज्यपाद देवनन्दी (ई०सं० ६३५-६८५) ने अपने **जैनेन्द्रव्याकरण** के 'वेत्तेसिद्धसेनस्य'^{२०} इस सूत्र की व्याख्या में सिद्धसेन के मत विशेष का उल्लेख किया है जिसमें कहा गया है कि सिद्धसेन के मतानुसार अनुपसर्ग और सकर्मक √विद् धातु से रेफ या र का आगम होता है। इस मान्यता का प्रयोग नवीं **द्वात्रिंशिका**^{२१}

के २२वें पद्य में 'विद्रते' इस प्रकार के रेफ आगम वाला पद पाया जाता है अतः देवनन्दी का यह उल्लेख बिल्कुल सही है। अन्य वैयाकरण जब 'सम्' उपसर्ग पूर्वक और अकर्मक 'विद्' धातु में 'र्' आगम को स्वीकार करते हैं तब सिद्धसेन ने अनुपसर्ग और सकर्मक 'विद्' धातु का 'र्' आगम वाला प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त देवनन्दी पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि'^{२२} नाम की तत्त्वार्थटीका के सप्तम् अध्यायगत १३वें सूत्र की टीका में सिद्धसेन दिवाकर के एक पद्य का अंश 'उक्तं च' शब्द के साथ उद्धृत पाया जाता है और वह है— "उक्तं च वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते"^{२३} यह पद्यांश उनकी तीसरी द्वात्रिंशिका के १६वें पद्य का प्रथम चरण है। देवनन्दी का समय विक्रम की छठी शताब्दी^{२४} का पूर्वाद्ध है अर्थात् पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से छठी शताब्दी के पूर्वार्ध तक लम्बा है, इससे सिद्धसेन को पाँचवीं शताब्दी का मानने वाली बात अधिक तर्कसंगत है। दिवाकर को यदि देवनन्दी से पूर्ववर्ती या देवनन्दी के वृद्ध समकालीन रूप में माना जाय तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दी से परवर्ती नहीं ठहरता।

पंडित जुगलकिशोर मुख्तार ने पंडित सुखलाल जी के इन प्रमुख तर्कों को अयुक्तियुक्त बतलाया है। अपने ग्रन्थ पुरातन-जैन-वाक्यसूची^{२५} की प्रस्तावना में पण्डित जुगल किशोर जी ने अपने मत के समर्थन एवं पण्डित सुखलाल जी के मत के खण्डन में मुख्य रूप से दो तर्क दिए हैं जिनका सार इस प्रकार है—

प्रथम तो मल्लवादी जिनभद्र से पूर्व थे यह सिद्ध ही नहीं होता क्योंकि उनके जिस उपयोग यौगपदवाद की विस्तृत समालोचना जिनभद्र के दो ग्रन्थों में बतलाई गई है, उनमें कहीं भी मल्लवादी अथवा उनके किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं है, होता तो पण्डित जी उस उल्लेख वाले अंश को उद्धृत करके ही संतोष करते दूसरे, मल्लवादी (ई०स० ५२५-५७५) के द्वादशारनयचक्र के उपलब्ध प्रतीकों में दिवाकर का सूचन मिलने और जिनभद्र का सूचन न मिलने से मल्लवादी जिनभद्र से पूर्ववर्ती हैं, यह तर्क भी अभीष्ट सिद्धि में सहायक नहीं होता। क्योंकि एक तो किसी विद्वान् के लिए यह लाजिमी नहीं है कि वह अपने ग्रन्थ में पूर्ववर्ती अमुक-अमुक विद्वानों का उल्लेख करे ही एवं जब मूल 'द्वादशारनयचक्र' के कुछ प्रतीक ही उपलब्ध हैं तो अनुपलब्ध अंशों में जिनभद्र अथवा उनके किसी ग्रंथादि का उल्लेख नहीं है इसका क्या प्रमाण है? अतः मल्लवादी का जिनभद्र के पूर्ववर्ती बतलाना कहीं से भी तर्कसंगत नहीं है।

दूसरा प्रमुख तर्क यह है कि मुनि श्री जम्बूविजय जी ने मल्लवादी के सटीक नयचक्र का पारायण करके उसका विशेष परिचय 'श्री आत्मानन्द प्रकाश' (वर्ष ४५

अंक७) में प्रकट किया है जिसमें कहा गया है कि मल्लवादी ने अपने **नयचक्र** में पद-पद पर '**वाक्यपदीय**' ग्रन्थ का उपयोग ही नहीं किया बल्कि उसके कर्ता भर्तृहरि का नामोल्लेख और उनके मत का खण्डन भी किया है। भर्तृहरि का समय इतिहास में चीनी यात्री इत्सिंग के यात्राविवरणादि के अनुसार सन् ६०० से ६५० (वि०सं० ६५७ से ७०७) तक माना जाता है क्योंकि इत्सिंग ने जब ६९१ में अपनी यात्रा वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरि का देहावसान हुए ४० वर्ष बीत चुके थे और वह उस समय का प्रसिद्ध वैयाकरण था। ऐसी हालत में मल्लवादी, जिनभद्र से पूर्ववर्ती नहीं कहे जा सकते। उक्त समयादिक की दृष्टि से वे विक्रम की प्रायः आठवीं-नवमी शताब्दी के विद्वान् हो सकते हैं और तब उनका व्यक्तित्व **न्यायबिन्दु** की धर्मोत्तर टीका पर टिप्पण लिखने वाले मल्लवादी के साथ एक भी हो सकता है।^{२६} अतः पण्डित सुखलाल जी का मत सही नहीं ठहरता।

आइए इन प्रमाणों की परीक्षा करें— केवली ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग के सम्बन्ध में तीन प्रकार की अवधारणाएँ प्रचलित हैं—क्रमवाद, युगपदवाद एवं अभेदवाद। इस सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट है कि क्रमवाद की अवधारणा आगमिक है, जबकि युगपदवाद की अवधारणा मुख्य रूप से दिगम्बर परम्परा में प्रचलित रही। इन दोनों अवधारणाओं के मध्य तीसरी अवधारणा अभेदवाद की है। यह सुनिश्चित है कि इस अभेदवाद के प्रणेता सिद्धसेन दिवाकर हैं। क्रमवाद की अवधारणा आगमिक होते हुए भी उसका सुस्पष्ट प्रतिपादन हमें सर्वप्रथम **देविन्द्रत्थवो**^{२७} नामक प्रकीर्णक एवं '**आवश्यकनिर्युक्ति**'^{२८} में मिलता है। यह अवधारणा इन दोनों ग्रंथों में जिस रूप में प्रतिपादित की गई है उससे ऐसा लगता है कि यह उस मान्यता का खण्डन करती है जो एक समय में दोनों उपयोगों का युगपद रूप में मान रही थी। अब प्रश्न यह है कि इन दोनों— क्रमवाद और युगपदवाद की मान्यताओं के प्राचीनतम समय क्या हैं?

जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं कि क्रमवाद की गाथा हमें '**देवेन्द्रस्तव** (देविन्द्रत्थवो) व **आवश्यकनिर्युक्ति**' में मिलती है, यह **देवेन्द्रस्तव** में जिस प्रसंग में मिलती है वह सिद्धों का प्रसंग है। सिद्धों के इस प्रसंग से सम्बन्धित गाथाएँ हमें '**प्रज्ञापना**' और '**तित्थोगालिय**'^{२९} नामक प्रकीर्णक में भी मिलती हैं। किन्तु उनमें क्रमवाद का मण्डन या युगपदवाद का खण्डन नहीं है। **तित्थोगालिय** प्रकीर्णक निश्चय ही देविन्द्रत्थवो से परवर्ती है क्योंकि वह वीर निर्वाण १००० वर्ष तक की घटनाओं का उल्लेख करता है, किन्तु **प्रज्ञापना** प्राचीन ग्रन्थ है। **प्रज्ञापना** में इस प्रसंग की अन्य सभी गाथाएँ उपलब्ध हैं किन्तु क्रमवाद सम्बन्धी यह गाथा उसमें उपलब्ध नहीं है अतः इतना निश्चित है कि **प्रज्ञापना** के पश्चात् और **आवश्यक-**

निर्युक्ति के पूर्व क्रमवाद का सिद्धान्त अस्तित्व में आया होगा। प्रज्ञापना का काल ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। **देवेन्द्रस्तव** के काल के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए डॉ० सागरमल जैन ने लिखा है कि **देवेन्द्रस्तव** के कर्ता ऋषिपालित हुए हैं, जो **कल्पसूत्र** की **स्थविरावली** के अनुसार आर्य शांतिश्रेणिक के बाद हुए हैं। शांतिश्रेणिक उच्चनागरी शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इसी उच्चनागरी शाखा में आगे चलकर **तत्त्वार्थसूत्र** के कर्ता उमास्वाति भी हुए हैं। **कल्पसूत्र**, **स्थविरावली** के अनुसार ऋषिपालित, शांतिश्रेणिक के बाद हुए हैं, जिनसे ऋषिपालित शाखा निकली थी। यदि **कल्पसूत्र**, **स्थविरावली** के आधार पर उनके कालक्रम का निर्धारण करें तो ऋषिपालित महावीर के पश्चात् ग्यारहवीं पीढ़ी में आते हैं। सामान्य अनुमान से एक आचार्य का काल तीस वर्ष मानने पर इनका काल महावीर के निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् अर्थात् ई०पू० २२७ या ई०पू० १९७ आता है। आर्य सुहस्ति जो सम्प्रति के समकालीन माने जाते हैं एवं जिनका काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना जाता है, ऋषिपालित उनसे चौथी पीढ़ी में आते हैं अर्थात् वे आर्य सुहस्ति के १०० वर्ष पश्चात् हुए होंगे। ऐसी स्थिति में ऋषिपालित का काल ई०पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में मानना होगा। यह '**देविन्दत्यओ**' के काल की उत्तर सीमा है। यदि हम नीचे के आचार्यों के क्रम की दृष्टि से विचार करें तो यह सुनिश्चित है कि आर्यवज्र जिनसे वज्री शाखा निकली एवं जिनका निर्वाण वीर सं० ५८५ माना जाता है, आर्य शांतिश्रेणिक के गुरुभाई सिंहगिरि के शिष्य हैं। इस प्रकार ऋषिपालित और आर्यवज्र समकालीन सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में ऋषिपालित का समय वीर निर्वाण ५८५ के आसपास सिद्ध होता है अर्थात् वे ईसा की द्वितीय शताब्दी के सिद्ध होते हैं। अतः हमें मानना होगा कि यह क्रमवाद एवं युगपदवाद की अवधारणाएँ ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व में अस्तित्व में आ गई थीं। **आवश्यकनिर्युक्ति** का सन्दर्भ देकर पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार^{३०} ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि **आवश्यकनिर्युक्ति** द्वितीय भद्रबाहु की रचना है और उनका काल वि०सं० ५६२ है एवं उनके कथन का खण्डन **सन्मति** में होने से सिद्धसेन उनके पश्चात् अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी के तृतीय चरण से सातवीं शताब्दी के तृतीय चरण के बीच कहीं हुए हैं। किन्तु जिस क्रमवाद का खण्डन **सन्मतिसूत्र** में है, यदि वह **देवेन्द्रस्तव**, जो दूसरी शताब्दी का ग्रन्थ है, में उल्लिखित है तो हमें और आदरणीय मुख्तार जी को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि सिद्धसेन का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी के बाद कहीं भी निश्चित किया जा सकता है।

आदरणीय पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं कि पण्डित सुखलाल जी निर्युक्तिकार भद्रबाहु को प्रथम भद्रबाहु और उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी

मान लिया, इसलिए उन्हें इन वादों के क्रम विकास को समझने में भ्रान्ति हुई। आदरणीय मुख्तार जी का यह कथन अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि क्या पण्डित सुखलाल जी इतने अनभिज्ञ थे कि वे प्रथम भद्रबाहु का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी मानते? भद्रबाहु प्रथम तो महावीर के छठे क्रम के आचार्य हैं, और वे तो विक्रम के २०० वर्ष से अधिक पूर्व हो चुके हैं। क्या पण्डित जी को इन ४०० वर्षों का अन्तर समझ में नहीं आया था। युगपद्वाद और क्रमवाद कब अस्तित्व में आ गये थे इसके लिए स्वयं मुख्तार जी **नियमसार** का उद्धरण उपस्थित करते हैं। **नियमसार** में स्पष्ट रूप से युगपद्वाद का मंडन किया गया है,^{३१} एवं कुन्दकुन्द को तो हमारे दिगम्बर परम्परा के विद्वान् ईसा की प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी के बीच रखते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार तो युगपद्वाद और क्रमवाद दोनों ही दूसरी-तीसरी शताब्दी के मध्य आ गए थे, यह सिद्ध हो जाता है। फिर चौथी-पाँचवीं शताब्दी के सिद्धसेन यदि उसका समन्वय करते हैं तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या?

आदरणीय मुख्तार जी एक ओर कहते हैं कि तीसरी और नवीं **द्वात्रिंशिका** के जो कर्ता हैं, पूज्यपाद देवनन्दी से पहले हुए हैं, उनका समय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी भी हो सकता है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि **सन्मत्तिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन भी पूज्यपाद देवनन्दी से पहले या विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में हुए हैं। दूसरी ओर वे अभेदवाद के पुरस्कर्ता को निर्युक्तिकार भद्रबाहु मान लेते हैं और उन्हें छठी शताब्दी में रखते हैं, उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि **कल्पसूत्र** की **स्थविरावली** के अनुसार दूसरे आर्यभद्र जो निर्युक्तियों के कर्ता भी हैं, वे धनगिरि और शिवभूति के समकालीन हैं, जिनका काल विक्रम की दूसरी शताब्दी है। क्रमवाद व अभेदवाद का खण्डन अकलंक के **तत्त्वार्थवार्तिक** में होने से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अकलंक सिद्धसेन के बाद हुए हैं। यदि पूज्यपाद की वृत्तियों में इन वादों की कोई चर्चा नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि सिद्धसेन परवर्ती हैं।

पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार^{३२} ने सिद्धसेन के समय को नीचे ले जाने के लिए एक तर्क यह दिया है कि मुनि जम्बूविजय^{३३} ने मल्लवादी के **नयचक्र** के अध्ययन के आधार पर यह लिखा है कि मल्लवादी ने अपने **नयचक्र** में पद-पद पर **वाक्यपदीय** ग्रन्थ का उपयोग ही नहीं किया है बल्कि उसके कर्ता भर्तृहरि का नामोल्लेख एवं उनके मत का खण्डन किया है। श्री मुख्तार जी ने भर्तृहरि का समय इत्सिंग के यात्रा विवरण के आधार पर ई०सन् ६५० मान लिया है और इस आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाल लिया कि मल्लवादी, जिनभद्र के पूर्ववर्ती नहीं कहे जा सकते, वे ८वीं ९वीं शताब्दी के विद्वान् हो सकते हैं। किन्तु यह उनका श्वेताम्बर

आचार्यों के समय को पीछे ढकेलने और दिगम्बर आचार्यों के समय को ऊपर ले जाने के प्रयास का ही परिणाम है।

यदि इत्सिंग के यात्रा विवरण को प्रामाणिक मानकर यह मान भी लिया जाय कि भर्तृहरि का स्वर्गवास ई०सन् ६५० में हुआ (क्योंकि इत्सिंग ने ६९१ में जब अपनी यात्रा वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरि का देहावसान हुए ४० वर्ष बीत चुके थे)^{३४} तब भी इस तथ्य का निर्धारण नहीं होता है कि उनकी **वाक्यपदीय** इसी काल की रचना है। यदि हम भर्तृहरि को दीर्घजीवी मानकर उनकी आयुमर्यादा ९० वर्ष तक ही सीमित करें तो उनका जन्म सन् ५६० के लगभग हुआ होगा और हो सकता है कि उन्होंने **वाक्यपदीय** की रचना ई०सन् ५८० के आस-पास की हो किन्तु **वाक्यपदीय** का अनुसरण मल्लवादी ने किया है, न कि सिद्धसेन ने। इससे भी मल्लवादी **विशेषावश्यकभाष्य** के अधिक से अधिक समकालीन सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु इससे सिद्धसेन की समय मर्यादा को पीछे नहीं लाया जा सकता। अभेदवाद के पुरस्कर्ता सिद्धसेन तो उनके पूर्ववर्ती ही हैं। पण्डित मुख्तार जी का यह मानना नितान्त भ्रान्त है कि **आवश्यकनिर्युक्ति** के पूर्व क्रमवाद का प्रतिपादन ही नहीं हुआ था। **आवश्यकनिर्युक्ति** के पूर्व **देवेन्द्रस्तव** में क्रमवाद का प्रतिपादन हो चुका था, पुनः **आवश्यकनिर्युक्ति** छठी शताब्दी की रचना नहीं है जैसा कि मुख्तार जी मानते हैं, वह आर्यभद्र की रचना है जो दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुए हैं एवं उनका उल्लेख **कल्पसूत्र स्थविरावली** में भी है। एल०डी०इन्स्टीच्यूट अहमदाबाद से प्रकाशित **वाक्यपदीय** (१९८४) की भूमिका में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि भर्तृहरि का नाम, कृति एवं उनके विचारों का उल्लेख तथा कारिकाओं के अवतरण मूल **मध्यमकारिका** के टीकाकार भव्य (ई०४५०), **अभिधर्म** के कर्ता विमलमित्र (ई०४५०), **प्रमाणसमुच्चय** के कर्ता दिङ्नाग (ई०४८०-५५०) **तन्त्रवार्तिककार** कुमारिल भट्ट (ई०५५०) के ग्रन्थों में मिलते हैं। चूंकि ई०सन् ४५० के ग्रन्थों में भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** का उल्लेख हुआ है इसलिए वे निश्चित ही ई०सन् ४०० से ४५० या उसके पूर्व हुए हैं। इस आधार पर मल्लवादी का काल ई०सन् ५०० के आसपास माना जा सकता है। **विशेषावश्यकभाष्य** का काल ई०सन् ६०९ है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मल्लवादी जिनभद्र के पूर्व व सिद्धसेन के बाद हुए हैं। **प्रभावकचरित** में मल्लवादी का काल वीर निर्वाण संवत् ८८४ माना गया है। यदि हम वीर निर्वाण, वि०सं० के ४१० वर्ष पूर्व मानें तो उनका काल वि०सं०४७४ आयेगा जो लगभग अन्य सभी अनुमानों से ठीक बैठता है।^{३५}

मुख्तार जी ने मल्लवादी के समय को पी०एल०वैद्य के सुझाव के अनुसार वि०सं०८८४ तक ले जाने का प्रयास किया है। मात्र इसी से उन्हें संतोष नहीं

हुआ, हरिभद्र के 'अनेकान्तजयपताका' में 'उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना'^{३६} जैसे शब्दों का स्पष्ट प्रयोग देखकर वे हरिभद्र को भी ९वीं शताब्दी के अन्त में ले जाना चाहते हैं, परन्तु मुनि जिनविजयजी ने विस्तृत विवेचना करके यह निष्कर्ष निकाला है कि हरिभद्र किसी भी स्थिति में ८वीं शताब्दी के बाद के आचार्य नहीं हैं।^{३७} वस्तुतः सिद्धसेन के समय में जो भ्रान्ति खड़ी की जा रही है उसका मूल कारण यह है कि **सन्मत्तिसूत्र** के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर **तत्त्वार्थभाष्य** के टीकाकार सिद्धसेनगणि और **न्यायावतार** एवं उसकी टीका के कर्ता सिद्धर्षि को एक दूसरे से मिला दिया गया है। अतः सिद्धसेन का समय वि० की चतुर्थ-पांचवीं शताब्दी मानना ही उचित है, उन्हें चौथी-पांचवीं शताब्दी का विद्वान् मानने पर उनकी समकालिकता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से भी सिद्ध हो जाती है।

सामान्यतया यह तर्क दिया जाता है कि पूज्यपाद देवन्दी ने **सन्मत्तिसूत्र** के ज्ञान-दर्शन-उपयोग के अभेदवाद की चर्चा नहीं की जबकि अकलंक ने **तत्त्वार्थवार्तिक** में उसकी चर्चा की और उसकी तर्कपूर्ण समीक्षा भी की। यदि पूज्यपाद के पूर्व **सन्मत्तिसूत्र** रचा गया होता तो पूज्यपाद अकलंक की तरह उसके अभेदवाद की मीमांसापूर्वक ही युगपदवाद का प्रतिपादन करते। अतः सिद्धसेन का समय विक्रम की छठी शताब्दी और अकलंक का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के मध्य का अर्थात् वि०सं० ६२५ के आसपास का होना चाहिए।

इसी क्रम में आदरणीय मुख्तार जी ने **सन्मत्तिकार** सिद्धसेन को भी पूज्यपाद देवन्दी के परवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनका तर्क है कि— 'पूज्यपाद से पहले उपयोगद्वय के क्रमवाद तथा अभेदवाद के कोई पुरस्कर्ता नहीं हुए हैं, होते तो पूज्यपाद अपनी सर्वार्थसिद्धि में सनातन से चले आये युगपदवाद का प्रतिपादन करके ही नहीं रह जाते बल्कि उसके विरोधी वाद अथवा वादों का खण्डन जरूर करते परन्तु ऐसा नहीं है, और इससे यह स्पष्ट होता है कि पूज्यपाद के समय में केवली के उपयोग विषयक क्रमवाद तथा अभेदवाद प्रचलित नहीं हुए थे.... अभेदवाद का प्रतिस्थापन सिद्धसेन के द्वारा हुआ है'^{३८} अतः सिद्धसेन पूज्यपाद के परवर्ती हैं। किन्तु जब पूज्यपाद **जैनेन्द्रव्याकरण** में सिद्धसेन का उल्लेख कर रहे हैं एवं **तत्त्वार्थ** की **सर्वार्थसिद्धि** नामक टीका के सप्तम अध्यायगत १३वें सूत्र की टीका में सिद्धसेन दिवाकर के एक पद्य को उद्धृत करते हैं तो फिर वे उनके परवर्ती कैसे हो सकते हैं, पुनः उन्होंने अभेदवाद का खण्डन नहीं किया, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सिद्धसेन के अभेदवाद की स्थापना उसके बाद हुई होगी। हो सकता है कि उन्हें अभेदवाद एवं युगपदवाद में अधिक अन्तर न परिलक्षित हुआ हो।

पण्डित मुख्तार ने युगपदवाद की चर्चा को उमास्वाति के पूर्व स्थापित करने एवं भूतबलि को उमास्वाति से पूर्व सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। भूतबलि, जिनका समय दिगम्बर परम्परा ई०सन् की प्रथम शताब्दी का अन्तिम चरण^{१०} निर्धारित करती है, उन्हें उमास्वाति से पूर्व सिद्ध करने में सबसे बड़ा बाधक प्रमाण **षट्खण्डागम** में प्राप्त गुणस्थानों की स्पष्ट और विकसित चर्चा है। दिगम्बर परम्परा में **षट्खण्डागम**^{१०} एवं श्वेताम्बर परम्परा में **समवायांग**^{११} में गुणस्थानों का स्पष्ट नाम निर्देश नहीं है फिर भी क्रमशः जीवसमास एवं जीवस्थान के नाम से इनकी चर्चा की गई है। यदि **षट्खण्डागम** को उमास्वाति के पूर्व की रचना मान लें तो यह आश्चर्य का विषय लगता है कि आचार्य उमास्वाति ने जहाँ अपने **तत्त्वार्थसूत्र** में जैनधर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है वहाँ उन्होंने १४ गुणस्थानों का कहीं भी निर्देश नहीं किया। यदि **षट्खण्डागम** उनसे पूर्ववर्ती होता तो निश्चित रूप से उन्होंने उसमें पायी जाने वाली गुणस्थान सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा को अपने **तत्त्वार्थसूत्र** में समाविष्ट किया होता या कम से कम उल्लेख तो किया ही होता, परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः **षट्खण्डागम** लगभग छठी शताब्दी की रचना है। क्योंकि इन्द्रनन्दी के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य ने **षट्खण्डागम** पर '**परिकर्म**' नाम की एक टीका लिखी है,^{१२} और इस आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि **षट्खण्डागम** के सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन^{१३} ने इसकी समय सीमा ई० सन् ८७ जो निश्चित की है, वह अयुक्तियुक्त है। प्रो० एम० ए० ढाकी^{१४} ने **षट्खण्डागम** की समय सीमा पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम चरण या छठीं शताब्दी का प्रारम्भ निर्धारित किया है। अतः **षट्खण्डागम** और **नियमसार** दोनों के ही उमास्वाति के पूर्ववर्ती सिद्ध न हो पाने से पण्डित मुख्तार जी का उमास्वाति से पूर्व युगपदवाद की चर्चा होने का मत निराधार प्रतीत होता है।

द्वात्रिंशिकाओं की रचना और उनके समय के आधार पर भी मुख्तार जी ने सिद्धसेन के समय को पीछे ले जाने का प्रयास किया है। वस्तुतः आदरणीय जुगलकिशोर जी मुख्तार और डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने यह कल्पना कर ली है कि **द्वात्रिंशिकाओं** में कुछ के रचयिता श्वेताम्बर सिद्धसेन एवं कुछ के रचयिता दिगम्बर सिद्धसेन हैं। पण्डित जुगलकिशोर जी का यह विचार पूर्वाग्रह से परे नहीं है क्योंकि उन्होंने केवल वे ही **द्वात्रिंशिकाएँ** सिद्धसेन की मानीं जो उनकी परम्परा के विरुद्ध नहीं जाती थीं, शेष **द्वात्रिंशिकाओं** एवं **सन्मत्तिसूत्र** के कर्त्ता को अन्य सिद्धसेन बताकर वे अपने मन्तव्य की संतुष्टि करना चाहते हैं। सम्भवतः वे यह भूल गए कि जिन सम्प्रदायों के चौखटों में हम उन्हें फिट करना चाहते हैं वे चोखटे सिद्धसेन के समय तक तैयार ही नहीं हो पाये थे। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण

रखना चाहिए कि यदि सिद्धसेन पांचवीं शताब्दी के विद्वान् हैं तो उनके काल तक श्वेताम्बर व दिगम्बर जैसे स्पष्ट संघभेद अस्तित्व में नहीं आ पाये थे।

श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थ तथा यापनीय संघ आदि के सर्वप्रथम उल्लेख हमें देवगिरि के शिलालेखों में मिलते हैं। ये शिलालेख मृगेशवर्मा के हैं। इनका काल ईसा की पांचवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। यदि सिद्धसेन को हम पांचवीं शताब्दी का मानते हैं तो स्पष्ट रूप से उस समय श्वेताम्बर दिगम्बर जैसे नामकरण तो नहीं हो पाये थे। डॉ० सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय'^{४५} में प्रतिपादित किया है कि इन दोनों संघों के स्पष्ट नामकरण साहित्यिक और अभिलेखीय किसी भी आधार पर पांचवीं शताब्दी के पूर्व में नहीं आ पाये थे। यद्यपि तीसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के विवाद को लेकर मान्यताभेद प्रारम्भ हो गये थे किन्तु इन भिन्न-भिन्न मान्यताभेद रखने वाले आचार्यों में बहुत अधिक कटुता रही हो ऐसा कोई भी निर्देश हमें नहीं मिलता है। देवगिरि और हल्सी के पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के अभिलेखों से भी यही सूचित होता है कि उनमें परस्पर समादरभाव और सहयोग था तभी श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ को 'अर्हतप्रोक्त-सद्धर्मकरणपरस्य' ऐसा विशेषण तथा यापनीयों को तपस्वी जैसे विशेषण दिये गये हैं। उस समय तक दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर और मूर्तियाँ भी एक ही थे। वस्तुतः सिद्धसेन के काल तक कुछ सैद्धान्तिक मान्यताभेद तो अस्तित्व में आ गये थे, किन्तु साम्प्रदायिक आधारों पर मान्यताओं का स्थिरीकरण नहीं हुआ था, इन मतभेदों के संकेत तो हमें श्वेताम्बर आगमों तथा **कषायपाहुड**, **षट्खण्डागम** आदि प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में मिल जाता है, 'यहाँ तक कि एक ही वर्ग के आचार्यों में भी परस्पर मतभेद है। अतः सिद्धसेन का काल श्वेताम्बर एवं दिगम्बर नामकरण के अस्तित्व में आने के पूर्व है। यह स्पष्ट है कि वे श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों के पूर्व युग के आचार्य हैं, इसलिये यापनीय परम्परा और उससे निकले हुए 'पुत्राटसंघ' आदि एवं **षट्खण्डागम** की **धवलाटीका** में उनका आदरपूर्वक उल्लेख हुआ है। अतः **द्वात्रिंशिकाओं** के आधार पर सिद्धसेन के समय को पांचवीं शताब्दी के बाद ले जाने का पण्डित मुख्तार जी का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता।

सिद्धसेन दिवाकर को विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी मानने में दो मुख्य विरोधी मत हैं : एक है प्रो० हर्मन् जैकोबी का तथा दूसरा प्रो० पी० एल० वैद्य का। प्रो० हर्मन् जैकोबी एवं उनके मत के उपजीवी प्रो० पी० एल० वैद्य की मान्यता है कि सिद्धसेन दिवाकर 'न्यायावतार'^{४६} में धर्मकीर्ति^{४७} के 'अभ्रान्त' शब्द का उपयोग करके एवं 'अनुमान भी प्रत्यक्ष की भांति अभ्रान्त है'^{४८} ऐसा कहकर 'अभ्रान्त' पद

का प्रथम प्रयोग करने वाले धर्मकीर्ति के मत का खण्डन करते हैं, अतः सिद्धसेन, धर्मकीर्ति के बाद यानी ई०सन् ६३५-५० के पश्चात् आते हैं।^{११}

प्रो०जैकोबी एवं प्रो०वैद्य के इस प्रमाण का खण्डन करते हुए पण्डित सुखलालजी ने अपनी पुस्तक 'सन्मतिप्रकरण' की भूमिका में कहा है कि 'प्रमाण की व्याख्या में 'अभ्रांत' अथवा उससे मिलता जुलता शब्द भारतीय दर्शनों में धर्मकीर्ति से पहले अज्ञात था, ऐसा मानना वस्तुतः बहुत बड़ी भूल है क्योंकि गौतम के न्यायसूत्र तथा उसपर हुए वात्स्यायनभाष्य में 'अभ्रान्त' अर्थ वाले 'अव्यभिचारी' शब्द और उससे युक्त प्रत्यक्षप्रमाण लक्षण प्रसिद्ध है, (न्यायसूत्र, १/१/४)। वैसे भी अनुमान शब्द और उसका विचार दिङ्नाग पूर्व के बौद्ध न्याय में भी मिलता है^{१०}। अतः यह कहना कि सिद्धसेन धर्मकीर्ति के बाद के हैं, उचित प्रतीत नहीं होता।

सिद्धसेन के उपयोगभेदवाद की चर्चा के प्रसंग में पं०जुगल किशोर मुख्तार ने पण्डित सुखलाल जी संघवी के इस मत का कि पहले क्रमवाद था, युगपद्वाद सर्वप्रथम उमास्वाति द्वारा जैनवाङ्मय में प्रवृष्ट हुआ और फिर उसके बाद अभेदवाद का प्रवेश मुख्यतः सिद्धसेन के द्वारा हुआ,^{११} का खण्डन करते हुए 'सव्वस्स केवलस्स वि जुगवं दो णत्थि उवओगा', भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति की इस गाथा को युगपद्वाद के प्रतिवादी के रूप में उद्धृत कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पण्डित सुखलाल^{१२} जी का मत निर्युक्तिकार भद्रबाहु को द्वितीय शताब्दी का मानने के कारण खण्डित हो जाता है। क्योंकि द्वितीय भद्रबाहु तो पांचवीं शती के हैं दूसरे, उनकी यह भी मान्यता है कि कुन्दुकुन्दाचार्य के नियमसार^{१३} एवं पुष्पदन्तभूतबलि के षट्खण्डागम^{१४} में भी युगपद्वाद का स्पष्ट विधान पाया जाता है, और ये दोनों आचार्य उमास्वाति के पूर्ववर्ती हैं।

पं०मुख्तार जी का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि जहाँ तक निर्युक्तिकार भद्रबाहु का प्रश्न है, आदरणीय मुख्तार जी का उन्हें विक्रम की छठी शताब्दी का मानना,^{१५} जैन विद्यालय रजत जयंती महोत्सव ग्रन्थ में मुद्रित मुनि श्री पुण्यविजयजी के 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार'^{१६} नामक गुजराती लेख पर आधारित है। परन्तु मुनि पुण्यविजय जी के उसी लेख के इतर अंश पर पण्डित मुख्तार जी का ध्यान नहीं गया जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि विक्रमीय पांचवीं शती में गोविन्द भिक्षु नामक दूसरे एक निर्युक्तिकार हुए हैं। स्वयं पुण्यविजय जी ने अपने मत का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए बृहत्कल्प के छठे भाग की प्रस्तावना में निर्युक्तियों की परम्परा छठी शताब्दी पहले से चली आ रही थी, ऐसा स्पष्ट विधान

किया है। इसी से विक्रम की दूसरी शताब्दी में होने वाले **अनुयोगद्वार** के कर्ता श्री आर्यरक्षित ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का (**अनुयोगद्वार सूत्र-१५५**)^{५०} उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने **अनुयोगद्वार** में (१५६) कुछ गाथाएँ भी उद्धृत की हैं जो भद्रबाहु की निर्युक्तियों में हैं। पं० सुखलाल जी संघवी ने '**सन्मति प्रकरण**' की संपूर्ति में निर्युक्ति के रचनाकाल को आदरणीय मुख्तार जी के अनुसार छठी शताब्दी में मानने को अयुक्तियुक्त बतलाते हुए कहा है कि 'अगर हम दुर्जन तुष्टि न्याय से सब निर्युक्तियों को पूर्णरूपेण छठी शताब्दी की रचना मानें तो **अनुयोगद्वार** गत 'निज्जुति' पद का तथा **अनुयोगद्वार** में आई हुई निर्युक्तिगत गाथाओं का एवं मोविन्द भिक्षु कृत निर्युक्ति के प्राचीनतर विश्वस्त उल्लेख का खुलासा किसी तरह हो ही नहीं सकता।'^{५१}

इसके अतिरिक्त यदि छठी शताब्दी के पूर्व निर्युक्तियाँ नहीं थीं तो फिर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्राप्त निर्युक्ति गाथाएँ, शिवार्यकृत **भगवती-आराधना** में प्राप्य बीसों निर्युक्तिगत गाथाएँ एवं वट्टकेर के **मूलाचार** में प्राप्य शताधिक निर्युक्तिगत गाथाएँ आई कहाँ से? मात्र यही नहीं, मूलाचार में जो यह कहा गया है कि सामायिक आदि की निर्युक्ति को संक्षेप में कहता हूँ, — वह कैसे सम्भव हो सकता है? या तो वे यह मानें कि निर्युक्तियाँ उसके पहले थीं, या यह मानें कि ये सभी आचार्य छठी शताब्दी के बाद हुए हैं। दिगम्बर परम्परा में तो कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर आदि आचार्यों को निर्युक्तिकार भद्रबाहु से पहले माना जाता है,^{५२} यह बात तो आदरणीय मुख्तार जी को भी मान्य होगी। अतः जब निर्युक्तियाँ केवल छठी शताब्दी के भद्रबाहु द्वितीय की ही रचनाएँ नहीं हैं तो निर्युक्ति के समय को लेकर उपयोग के क्रमवाद को छठी शताब्दी के साथ जोड़ना यत्किंचित् भी तर्कसंगत न होकर एकांगिता है।

अब जो आदरणीय मुख्तार जी ने कुन्दकुन्द और भूतबलि को युगपद्वाद का विधायक मानते हुए उन्हें उमास्वाति के पूर्ववर्ती सिद्ध किया है,^{५३} आइए उस मत की परीक्षा करें।

पण्डित सुखलाल जी संघवी ने उमास्वाति को युगपद्वाद का सर्वप्रथम बोध कराने वाला माना है^{५४} एवं विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी चौथी शताब्दी निर्धारित किया है।^{५५} पण्डित मुख्तार जी का उपर्युक्त कथन तब तर्कसंगत माना जा सकता है जब कुन्दकुन्दाचार्य एवं भूतबलि का समय उमास्वाति से पहले हो।

दिगम्बर आचार्यों ने कुन्दकुन्द का समय विक्रम की प्रायः प्रथम शताब्दी^{६३} एवं भूतबलि का प्राकृत **पट्टावली**, नन्दिसंघ की **गुर्वावलि** आदि प्रमाणों के अनुसार ई०सन् की प्रथम शताब्दी का अन्त और द्वितीय शताब्दी का आरम्भ माना है।^{६४} जहाँ तक कुन्दकुन्दाचार्य का प्रश्न है, अभी हाल ही में (१९९१) पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी से प्रकाशित '**पण्डित दलसुखभाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ**' के एक लेख 'THE DATE OF KUNDKUNDĀCĀRAYA' में जैनकला और शिल्प के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् प्रो०एम०ए०ढाकी ने अनेक पुष्टप्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द का समय ८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध^{६५} निश्चित किया है। अपने मत के समर्थन में आपने अनेक साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों की समीक्षा करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है— यथा, आपका तर्क है कि 'वर्तमान दिगम्बर परम्परा एवं रचनाकार कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसवी सन् का प्रारम्भ मानते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर सर्वप्रथम टीका अमृतचन्द्राचार्य की मिलती है, जिनका समय पुष्ट साक्ष्यों के आधार पर ईसवी सन् की १०वीं शताब्दी माना गया है। कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के ग्रन्थों पर इन १००० वर्षों में कोई टीका क्यों नहीं लिखी गई, यह रहस्यमय और अविश्वसनीय लगता है।'^{६६} इससे स्पष्ट हो जाता है कि दिगम्बर पण्डितों ने कुन्दकुन्द के समय को जो ईसवी सन् का प्रारम्भ या विक्रम की प्रथम शताब्दी^{६७} बतलाया है वह कथमपि तर्कसंगत नहीं, उन्हें ८वीं शताब्दी के आस-पास होना चाहिए जिस पर १०वीं शताब्दी में अमृतचन्द्र ने टीका लिखी। इसके अतिरिक्त 'स्वामी समन्तभद्र (ई०सन् ५७५-६२५), पूज्यपाद देवन्दी (ई०सन् ६३५-६८५), भट्टअकलंक (ई०सन् ७२०-७८०) आदि दिगम्बर आचार्य एवं मल्लवादी क्षमाश्रमण (ई०सन् ५२५-५७५) जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (ई०सन् ५५०-५९४), सिंहसूरि क्षमाश्रमण (ई०सन् ७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), गंधहस्ती सिद्धसेनगणि (ई०सन् ७२५-७७०) एवं हरिभद्रसूरि (ई०सन् ७४०-७८५) जैसे श्वेताम्बर आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं या उनके सिद्धान्तों का कहीं उल्लेख नहीं करते,^{६८} जिससे स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द निश्चित रूप से इन आचार्यों के उत्तरवर्ती रहे हैं। दिगम्बर परम्परा और विद्वानों के कुन्दकुन्द का काल पहले निर्धारण करने का मुख्य आधार शक संवत् ३८८ के मर्करा के ताम्रपत्रीय अभिलेख हैं, जिनमें कुन्दकुन्द के आम्नाय का नाम पाया जाता है, किन्तु अनेक प्रबल कारणों से ये ताम्रपत्रीय अभिलेख जाली सिद्ध हो चुके हैं। अन्य शिलालेखों में इस आम्नाय का उल्लेख ८वीं शताब्दी के पूर्व नहीं पाया जाता।^{६९} स्वयं पण्डित मुख्तार ने कुन्दकुन्दाचार्य व भूतबलि को उमास्वाति से पूर्व सिद्ध करने के लिए श्रवलवेलगोला के जिन शिलालेखों को

पुरातन-जैनवाक्य-सूची (पृष्ठ-१५१) में सन्दर्भित किए हैं, वे ११वीं १२वीं शती के हैं। अतः उनका मत किसी प्रकार समीचीन नहीं लगता।

पण्डित जुगल किशोर मुख्तार ने पण्डित सुखलालजी पर सिद्धसेन के समय के सन्दर्भ में अनिश्चितता का आरोप लगाते हुए 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' की प्रस्तावना में कहा है कि 'पण्डितजी की स्थिति सिद्धसेन के समय-सम्बन्ध में बराबर डंवाडोल चली जाती है। आप प्रस्तुत सिद्धसेन का समय कभी विक्रम की छठीं शताब्दी से पूर्व पांचवीं शताब्दी^{१०} बतलाते हैं, कभी छठीं शताब्दी का भी उत्तरवर्ती^{११} कह डालते हैं, कभी संदिग्ध रूप में छठी या सातवीं शताब्दी^{१२} निर्दिष्ट करते हैं और कभी पांचवी तथा छठी शताब्दी का^{१३} मध्यवर्ती काल प्रतिपादन करते हैं।

परन्तु पं० जुगल किशोरजी ने इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा कि सुखलालजी की सिद्धसेन के समय विषयक जो डंवाडोल स्थिति है, उसका कारण क्या है? कोई भी रचनाकार जब किसी एक व्यक्ति के विषय में कुछ लिखता है तो उससे सम्बन्धित नये-नये प्रमाण जैसे-जैसे मिलते जाते हैं वैसे-वैसे लेखक की मान्यताओं में परिवर्तन होता चला जाता है। पण्डित सुखलालजी ने वि०सं०१९८० में **सन्मति प्रकरण**^{१४} के गुजराती संस्करण की प्रस्तावना लिखी थी तो उस समय उन्होंने सिद्धसेन का समय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना था। कुछ अन्य प्रमाणों के प्राप्त होने पर उन्हें अपनी मान्यता में परिवर्तन करना पड़ा और सं० १९९८ में '**ज्ञानबिन्दु प्रकरण**'^{१५} के ज्ञानबिन्दु परिचय में उन्होंने सिद्धसेन के समय को विक्रम की छठी शताब्दी का उत्तरवर्ती मान लिया। किन्तु पण्डित मुख्तारजी का यह कथन तो पूर्णतः असत्य है कि पण्डित सुखलालजी ने '**भारतीय विद्या**'^{१६} में प्रकाशित अपने 'श्री सिद्धसेन दिवाकरना समयनो प्रश्न' नामक लेखक में सिद्धसेन को छठी या सातवीं शताब्दी का निर्दिष्ट करते हैं। पण्डित मुख्तारजी का यह कथन पूर्वाग्रह युक्त विचार का प्रतिफल है क्योंकि पं० सुखलालजी ने उक्त लेख में स्पष्ट लिखा है कि "सिद्धसेन दिवाकर नो समय जे पांचवीं शताब्दी धरवामा आवेलो तो वधारे संगत लागे छे" हाँ उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि बौद्धग्रन्थों के आधार पर मुझे एक बार ऐसा लगा था कि सिद्धसेन का समय वि० की पांचवीं शताब्दी के बदले सातवीं शताब्दी होना चाहिए परन्तु उसके बाद बौद्ध न्याय के पुष्ट प्रमाणों के आधार पर अवलोकन किया तो लगा कि मेरी पूर्व मान्यता अर्थात् सिद्धसेन पांचवीं शताब्दी के हैं, अधिक संगत है'^{१७}

अतः सिद्धसेन के समय के विषय में प्राप्त अब तक के प्रमाणों की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के

आचार्य हैं। किसी भी आधार पर उनका समय पांचवीं शताब्दी के बाद नहीं लाया जा सकता। इस मत का समर्थन पण्डित दलसुखभाई मालवणिया^{७८}, सरलाक्राउजे,^{७९} एच०आर०कापड़िया,^{८०} पी०एन०दवे^{८१} आदि आधुनिक विद्वानों ने भी किया है।

सन्दर्भ :

१. आयरिय सिद्धसेणेण सम्मईए पइड्डिअजसेणं ।
दूसमणिसा-दिवागर कप्पंतणओ तदक्खेणं ॥ —हरिभद्र, **पंचवस्तुक** गाथा-१०४८, श्रेष्ठि देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था-वि०सं० १९८३ बम्बई, १०४८ ।
२. जगत्त्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥ —**हरिवंश पुराण**, संपा०-पं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, संस्करण — १/३० ।
३. प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुरः ॥— जिनसेन, **आदिपुराण**, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, भाग-१, १९९३, — १/३९-४२ ।
४. हेमचन्द्राचार्य, **अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका**, पारमर्षस्वाध्याय ग्रन्थसंग्रह, श्रीजैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, ग्रन्थांक २८, भावनगर, वि०सं० १९९६, श्लोक-३ ।
५. **जैनग्रन्थावली**, पृष्ठ ५४, ७५, ७९, ९४, १२७, १३८, २७३, २७५, २७७, २८१, २८९, २९२ ।
६. आयरिय सिद्धसेणेण सम्मईए पइड्डिअजसेणं ।
दूसमणिसा-दिवागर-कप्पतणओ तदक्खेणं ॥ —**पंचवस्तुक**, १०४८ ।
७. इति मन्वान आचार्यो दुषमाऽरसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्त जनाहार्दसंतम सविध्वंसकत्वेनावान्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेन दिवाकरः पदुपायभूतसम्मत्यारव्य-प्रकरणकरणे प्रवर्तमान स्तवाभिधायिकां गाथागाह ।
संमतितर्क-प्रकरणम्, श्री अभयदेवसूरि निर्मितया तत्त्वबोधविधायिन्या व्याख्यया विभूषितम् प्रथमोभागः, गुजरातपुरातत्त्व मन्दिर, अमदाबाद, संवत् १९८०, १/१ पृष्ठ १ ।
८. **पट्टावली समुच्चय**, संपा० मुनि दर्शन विजय, प्रथम भाग, पृष्ठ-१५० ।
९. **पंचवस्तुक**, गाथा १०४८ ।

१०. दंसणपभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छिय-सम्मतिमादिगेणहंतो असंथरमाणो जं अक्कप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अपायच्छिन्ती भवतीत्यर्थः ।
नीशीथसूत्र-भाग १, गाथा ४८६ पर चूर्णि, आगम प्रतिष्ठान सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, वीर सं० २४८४, पृष्ठ-१६२।
११. दंसण णाणेत्ति। अस्य व्याख्या—सुत्तत्थगतदुगाधा। दंसणपभावगाण सत्थाण सम्मदियादिसुतणाणे य जो विशारदो णिस्संक्रियसुत्तत्थो ति वुत्तं भवति सो य उत्तिमद्वुपडिवन्नो सो य जत्थ खेत्ते ठिओ तत्थंतरा वा वेरज्जं मा तं सुत्तथं वोच्छिजत्तु ति अओतगहणद्वया पकप्पति वेरज्जविरुद्ध संकमणं काउं।
—**नीशीथचूर्णि** भाग-३, पृष्ठ-२०२।
१२. अथवा तिसु आइल्लेसु णिवत्तणाधिकरणं तत्थ ओरालिए एगिंदियादि पंचविधं जोडीपाहुडातिणा जहा सिद्धसेणायरिण अस्सा पव्यता।
— वही, भाग-२, पृष्ठ-२८१।
१३. श्री प्रभाचन्द्राचार्य, **प्रभावकचरित** (वृद्धवादी प्रबन्ध) सिंधी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, वि०सं० १९८६, श्लो० १६७-८६।
14. Dr. Shatish Chandra Vidyabhusan, *A History of Indian Logic*. p.174. Calcutta University, 1921.
१५. सुखलाल संघवी एवं बेचरदास, **सन्मति प्रकरण**, भूमिका पृष्ठ-६, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३।
१६. धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहः शङ्कुर्वेतालभट्ट घटकर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वाराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।
—**ज्योतिर्विदाभरण**, २२/१०।
१७. डॉ०कु०शालोट क्राउजे, **विक्रम स्मृति ग्रन्थ**, पृष्ठ ४१४, सिंधिया ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट के तत्त्वावधान में प्रकाशित - सं०२००१।
१८. **सन्मति प्रकरण** - भूमिका, पृष्ठ-६।
१९. स्व०बाबू **श्री बहादुर सिंह जी सिंधी स्मृति ग्रन्थ**, भारतीय विद्या, तृतीय भाग सं०२०००।
२०. पूज्यपाद देवनन्दी, **जैनेन्द्रव्याकरण**, ५/१/७।
२१. नैनं देवा विद्यते नो मनुष्या देवाश्चैनं विदुरितरेतराश्च।
—**द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, ९/२२।
२२. पूज्यपाद देवनन्दी, **सवार्थसिद्धि**, जिनदासशास्त्री न्यायतीर्थ द्वारा संशोधित माणिकचन्द दिगम्बर जैनपरीक्षालय बीराव्दे-२४६५, ७/१३, पृष्ठ २३०।

२३. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-३/१६।**
२४. पं०नाथूराम प्रेमी 'देवनन्दी का जैनेन्द्र व्याकरण', लेख **जैन साहित्य और इतिहास**, पृष्ठ २३।
२५. पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार, **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर सन् १९५, पृष्ठ १४७-४८-४९।
२६. मुख्तार, **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ १४९।
२७. नाणम्मि दंसणम्मि य इत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो नत्थि उववोगा ॥ — **देवेन्द्रस्तव**, अनुवा०
डॉ०सुभाष कोठारी, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर,
१९८८, गाथा-२९७।
२८. **आवश्यकनिर्युक्ति**, श्रीहर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावक, शांतिपुरी,
सौराष्ट्र, १९८९, भाग-१, गाथा ९७९।
२९. **तित्थोगालिय** में सिद्धों का प्रसंग तो मिलता है पर उक्त गाथा नहीं मिलती।
३०. ध्यातव्य है कि पण्डित जुगलकिशोर जी **आवश्यकनिर्युक्ति** को द्वितीय भद्रबाहु
की एवं तीसरी और नवीं द्वात्रिंशिका को पूज्यपाद के पहले की रचना मानते
हैं। देखें—**पुरातन-जैनवाक्य-सूची** - पृष्ठ १४५, एवं १५०।
३१. जुगवं वट्टइ णाणं कवेलणाणिस्सं दंसणं च तथा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥
कुन्दकुन्द, **नियमसार**, दि सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ,
१९३१, गाथा - १५९।
३२. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ १४९।
३३. मुनि जम्बूविजय, 'जैनाचार्य श्री मल्लवादी और भर्तृहरि का समय' नामक लेख
'**बुद्धिप्रकाश**' नवम्बर, १९५१, पृष्ठ ३३२।
३४. इत्सिंग ने लिखा है कि 'शून्यतावादी तथा सात-सात बार बौद्ध भिक्षु बनकर
पुनः गृहस्थ बनने वाले महान बौद्ध पण्डित भर्तृहरि की मृत्यु को आज ४०
वर्ष हुए हैं'। — देखें, सन्मति प्रकरण, पृष्ठ ९।
३५. टिप्पणी :—वर्तमान में जो वीर निर्वाण वि०सं० के ४७० वर्ष पूर्व मानने की
परम्परा है वह समुचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि उसके आधार पर चन्द्रगुप्त,
सम्प्रति आदि की समकालिकता सिद्ध नहीं हो पाती, इसलिए उसे विक्रम के
४१० वर्ष पूर्व मानना उचित है। ऐसा मान लेने पर पं०सुखलाल जी ने जो
१०० वर्ष का सुधार किया है वह भी अपनी जगह ठीक बैठ जाता है।

३६. उक्तं च वादिमुख्येन (टीका-मल्लवादिना सम्मतौ) - स्वपरसत्वव्युदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्, अतो यद्यपि सन्न भवतीत्यसत्, तथापि परद्रव्यादिरूपेण सतः प्रतिषेधात् तस्य च तत्रासत्वात् तत्स्वरूपसत्वानुबन्धात् न निरुपाख्यमेव तत्। — हरिभद्र, **अनेकान्तजयपताका**, काशी, पृष्ठ ४७।
उक्तं च वादिमुख्येन (श्री मल्लवादिना सम्मतौ) - न विषयग्रहणपरिणामादृतेऽपरः संवेदने विषयप्रतिभासो युज्यते युक्त्ययोगात् । — वही, पृष्ठ ९८।
३७. देखें— श्री जिनविजयजी, **हरिभद्रसूरि का समय निर्णय**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी, १९८८, पृष्ठ १-६२।
३८. **पुरातन जैनवाक्य सूची**, पृष्ठ-१५१।
३९. जैन, डॉ०हीरालाल, **षट्खण्डागम धवलाटीका** प्रस्तावना, पृष्ठ २२-३१।
४०. एदेसि चेष चोद् सणहं जीव समासाण परूवणडुदाए तत्थ इमापि अद्द अणियोगद्वाराणिणायव्वाणि भवंति मिच्छादिद्धि सिद्धा चेदि। **षट्खण्डागम** (सत्प्ररूपणा) जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, (द्वितीय संस्करण सन् १९७३) पृष्ठ-१५४।
४१. **समवायांग**, सम्पादक मधुकर मुनि, १४/९५।
42. Indra Nandī credits Padmanandī Kundakundācārya to have written a commentary 'Parikarma' on the *Satkhandāgam* of Puspadanta and Bhūtbalī. Prof. M.A. Dhaky. The Date of Kundakundācārya. *Aspects of Jainology*, Vol. III, Parshvanath Vidyapeeth, Varanasi. p. 195.
४३. **षट्खण्डागम**, प्रथमभाग, सोलापुर, प्रस्तावना, पृष्ठ-२।
44. Dhaky M.A. The Date of Kundakundācārya, *Aspects of Jainology*. Vol. III, p. 195.
४५. डॉ०सागरमल जैन, **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय**, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९९६, पृष्ठ ३७२-७३।
४६. अनुमानं तद्भ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्। - **न्यायाबतार-५**, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, वि०सं० २००७।
४७. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढम भ्रान्तम् । - **न्यायबिन्दु** १/४, पृष्ठ-८, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, १९५४।
- (II) प्रत्यक्षं कल्पनापोढम नामजात्याद्यसंयुतम् ।
दिङ्नाग, **प्रमाणसमुच्चय**, संपा०-एच०आर०रंगास्वामी आयंगर, मैसूर, १९३०, कारिका ३।

४८. **सन्मति प्रकरण**, भूमिका, पृष्ठ-१३।
४९. **न्यायावतार**, पी०एल०वैद्य, की प्रस्तावना, बाम्बे १९२८, भूमिका, पृष्ठ-११।
५०. **सन्मति प्रकरण**, भूमिका, पृष्ठ-१३।
Prof. Tucci, *Journal of Royal Asiatic Society*, 1929, Bombay, July p.472.
५१. पं०जुगलकिशोर मुख्तार, **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ-१५१।
५२. पं०सुखलालजी संघवी, **ज्ञानबिन्दुप्रकरण की प्रस्तावना**, पृष्ठ-५, पादटिप्पणी।
५३. **नियमसार**, १५९।
५४. सयं भयवं उप्पण-णाण-दरिसी सदेवाऽसुर-माणुस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इद्धिं द्विदिं जुदिं अणुभागं तंत्तं कलं मणोमाणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्व जीवे सव्वभावे समं जाणदि पस्सदि विहरिदिति।
षट्खण्डागम ४ पयडि, अ०सू०-७८।
५५. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ-१४६।
५६. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ-१४६।
५७. **सन्मति प्रकरण**, पृष्ठ-१२१।
५८. वही, पृष्ठ-१२१।
५९. **सन्मति प्रकरण**, पृष्ठ-१२१।
६०. मुख्तार, **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ १५।
६१. i मतिज्ञानादिषुचतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपद। संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपद् सर्वभावग्राहकेनिरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति। उमास्वाति-**तत्त्वार्थभाष्य**, १/३१।
- ii. हम सबसे पहले उमास्वाति के **तत्त्वार्थभाष्य** में ऐसा उल्लेख पाते हैं जो स्पष्टरूपेण युगपद् पक्ष का बोध कराता है।
देखें—पण्डित सुखलाल जी, **ज्ञानबिन्दुप्रकरण की प्रस्तावना**, पृष्ठ-५४।
६२. पं०सुखलाल संघवी-**तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन** सहित, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध-संस्थान, वाराणसी, ग्रन्थमाला-२२, १९८५, प्रस्तावना, पृष्ठ-८।
63. A.N. Upadhye, *Pravacanasāra*, 'Introduction' Shrimad Rajchandra Jain Shastramala, Bombay 1964.
पुरातन-जैनवाक्य-सूची, पृष्ठ-१२।
६४. डॉ०नेमिचन्द्र शास्त्री, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् सागर, १९७४, पृष्ठ-५७।

65. Once we accept these equations, we concede to the clarification they provide on the principal puzzling point, the date for Kundakundācārya - It can only be better half of the 8th. Cent. A.D. the other enigmas are. by the logic of this new dating resolved.

Prof. M.A. Dhaky. 'The Date of Kundakundācārya', published in *Aspects of Jainology*, Vol. III (Pt. Dalsukbhai Malvaniya Felicitation volume I) P.V. Rescarch Institute, Varanasi, 1991. p.193.

66. The earliest known commentaries on Kundakundācāryas work are by Amṛtacandrācārya who seems to have flourished on well resoned evidence in late ninth and early tenth centry A.D. It seems intriguing even inexplicable as it why on the works of this justly celebrated and for th past thousand years the most venerated Digambra Jaina philosopher saint, -supposed by modern Digambara. Jain writers to ave flourished of the beginning of the Christian (now, 'common') Era,no commentries were written for eight or nine centuries that may have follwed his writings. *Ibid*, p.188.

६७. i देखें-पण्डित नाथूराम प्रेमी 'अमृतचन्द' जैनसाहित्य और इतिहास, बाम्बे, १९५६ पृष्ठ-३११। (क्रमशः)

ii. पण्डित प्रेमी ने बाद में अमृतचन्द्र को ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं १२वीं शती के पूर्वार्द्ध का सिद्ध किया है। द्रष्टव्य- तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा, पृष्ठ-४०४।

68. Prof. M.A. Dhaky, The Date of Kundakundācārya, *Aspects of Jainology*, Vol. III, pp. 187-88.

६९. i हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२, पृष्ठ ८३।

ii. The mention in this character of Koṇḍakundānvaya cannot therefore push back that *anvaya's* antiquity to any century prior to the eight.

Prof. Dhaky. 'The Date of Kundakundācārya' *Aspects of Jainology*. Vol. III, P.V., p. 190.

७०. सन्मति प्रकरण, प्रस्तावना, ३९, ४३, ६४, ९४।

७१. ज्ञानबिन्दु प्रकरण, सम्पा० सुखलाल जी संघवी, ज्ञानबिन्दु परिचय, सिंघी जैन ज्ञानपीठ अहमदाबाद, सं० १९९८, पृष्ठ-६।

७२. श्री सिद्धसेन दिवाकरनो समयनो प्रश्न, पं० सुखलाल जी, भारतीय विद्या, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, पृष्ठ १५२।

७३. देखें— भारतीय विद्या, में प्रकाशित लेख, प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन, पृष्ठ-११।
७४. सन्मति तर्क प्रकरणम्, संपा० सुखलाल जी, बेचरदास, गुजरात पुरातत्व मन्दिर अहमदाबाद, सं० १९८०, सम्पादकीय निवेदन पृष्ठ १।
७५. ज्ञानबिन्दु प्रकरण, पृष्ठ-६।
७६. भारतीय विद्या, पृष्ठ-१५२।
७७. वही, पृष्ठ-१५२।
७८. दलसुखभाई मालवणिया, न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, प्रस्तावना, पृष्ठ-१४१, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि०सं० २००५, देखें-उन्हीं की जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा, पृष्ठ-६।
79. Charlotte Krause : Siddhasena And Vikramāditya, Vikram volume. english, Scindia Oriental Institute, Ujjain 1948. p. 80.
80. H.R. Kapadia, *Anekānta Jaipatākā*. Vol. II Baroda. 1947. p.98.
81. P.N. Dave, *Siddhasena Diwakāra*, Ph.D. Thesis, University of Bombay Sept. 1962.



अध्याय-२

जीवन वृत्तान्त

अपने जीवन वृत्तान्त के विषय में न तो स्वयं सिद्धसेन, न ही उनके निकट परवर्ती या पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने ही कुछ लिखा है। उनके जीवन के विषय में जो कुछ तथ्य हमें प्राप्त होते हैं उनके मुख्यरूप से तीन साधन हैं— (१) प्रबन्ध, (२) उल्लेख और (३) उनकी रचनाएँ। प्रबन्धों में पाँच प्रबन्ध उपलब्ध हैं जिनमें प्रभाचन्द्र का 'प्रभावकचरित' (वि०सं० १३३४), मेरुतुंग का 'प्रबन्धचिन्तामणि' (वि०सं० १३६१) एवं राजशेखर कृत 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' (वि०सं० १४०५) प्रकाशित तथा दो अप्रकाशित हैं। अप्रकाशित प्रबन्धों में एक गद्यप्रबन्ध भद्रेश्वर की कथावली में आया है एवं दूसरा पद्यप्रबन्ध (लेखक, समय अज्ञात)। इसके अतिरिक्त भद्रेश्वर की कथावली (१०वीं-११वीं शती) एवं संगतिलक (वि०सं० १३६५-१४२१) से सिद्धसेन के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इनमें प्रभावकचरित में आया हुआ प्रबन्ध शेष दोनों प्रबन्धों से अर्वाचीन है। इस प्रबन्ध के अनुसार आचार्य सिद्धसेन का जन्म उज्जयिनी नगरी के कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम देवर्षि एवं माता का नाम देवश्री था।^१ उज्जयिनी पर उस समय विक्रमादित्य का राज्य था एवं देवर्षि राजमान्य ब्राह्मण थे। इनकी बहन सिद्धश्री साध्वी थीं। प्रबन्धचिन्तामणि में इन्हें दक्षिण के कर्णाटक का निवासी बताया गया है। प्रो०ए०एन०उपाध्ये ने अपनी पुस्तक 'Siddhasena's Nyāyāvatāra and other works' में सिद्धसेन को यापनीय^२ बताते हुए कहा है कि सिद्धसेन दक्षिण के कर्णाटक से आये थे और उनका नाम भट्ट दिवाकर था।^३ अपने मत के समर्थन में प्रो०उपाध्ये ने कुछ तर्क दिये हैं—

(१) 'सन्मति' पद जो महावीर का अपर नाम है, एवं जो सन्मतितर्क या सूत्र में सही अर्थों में प्रयुक्त है, का प्रयोग धनञ्जय के 'नाममाला' में भी मिलता है जो दक्षिण, विशेषतः कर्णाटक में अधिक लोकप्रिय है।^४

(२) सिद्धसेन के 'सन्मतितर्क' एवं कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में अधिक साम्य है और इसके कथ्य एवं विचार समन्तभद्र एवं वट्टकेर की रचनाओं से भी काफी मिलते हैं।^५ इसकी कुछ गाथाएँ वट्टकेर के मूलाचार से पूर्णतया मिलती हैं। वट्टकेर और कुन्दकुन्द

दोनों कर्णाटक और उसके आस-पास के रहने वाले हैं। पं० सुखलालजी का सिद्धसेन से पहले कुन्दकुन्द को रखने का प्रयास ठीक है। और कोई ऐसा प्रमाण सामने नहीं आया जिससे कुन्दकुन्द और समन्तभद्र को सिद्धसेन का परवर्ती मान लिया जाय। कुन्दकुन्द समन्तभद्र और सिद्धसेन निश्चित रूप से पूज्यपाद से पहले हुए हैं, जिन्होंने अपनी **सर्वार्थसिद्धि** में कुन्दकुन्द के **द्रव्यानुप्रेक्षा** (गाथा-२५/९) एवं सिद्धसेन की स्तुति (III/16) तथा अपने **संस्कृत व्याकरण** में (५.४.१४०) समन्तभद्र का सन्दर्भ उल्लिखित किया है। डॉ० उपाध्ये का मानना है कि कालक्रमीय निष्कर्ष को विशेष साक्ष्यों की आवश्यकता होती है, वहाँ दृष्टिकोण एवं समानान्तर विचारधारा कोई मायने नहीं रखते जहाँ किसी विशेष कालावधि को जानने का निश्चित साधन उपलब्ध न हो।

(३) सुमति या सन्मति और वादिराज (ई०स० १०२५) द्वारा सन्मति पर लिखा एक भाष्य, ये पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर लिखे गये हैं, ऐसा उल्लेख श्रवणवेलगोला के एक अभिलेख एवं **पार्श्वनाथचरित**^६ में मिलता है। ये दोनों ही साधन दक्षिण विशेषतः कर्णाटक से सम्बद्ध हैं।

(४) परम्परा सर्वसम्मति से यह मानती है कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सिद्धसेन दक्षिण चले गए थे जहाँ पेंठन (प्रतिष्ठानपुर) में उनकी मृत्यु हो गई थी। डॉ० उपाध्ये के अनुसार वह उनकी स्वाभाविक मनोवृत्ति का परिणाम था।^७

डॉ० उपाध्ये के इस मत का समर्थन आंशिक रूप से बाद के एक प्रबन्ध के अतिरिक्त कहीं प्राप्त नहीं होता, एवं यह कहना कि उन्हें उनकी स्वाभाविक मनोवृत्ति मृत्यु के समय उनके जन्मभूमि की तरफ ले गई थी, साक्ष्यों के अभाव में युक्तियुक्त नहीं लगता। अतः उनका यह कहना कि वे कर्णाटक में पैदा हुए थे एवं बाद में उज्जैन चले गये थे, केवल उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर उचित प्रतीत नहीं होता।

आचार्य सिद्धसेन, आचार्य वृद्धवादी के शिष्य थे जिनके गुरु विद्याधर आमनाय शाखा में पादलिप्त कुल में उत्पन्न अनुयोगधर श्री स्कंदिलाचार्य थे। **प्रबन्धचिन्तामणि** के अनुसार वृद्धवादी आर्यसुहस्ति के शिष्य थे परन्तु उक्त मत समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि सम्प्रति के धर्मगुरु सुहस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई आर्यसुहस्ति जैन साहित्य में प्रसिद्ध नहीं हैं और यह आर्यसुहस्ति विक्रम से २०० वर्ष पहले हुए हैं, इसलिए उनके साथ वृद्धवादी के समय का मेल नहीं बैठता। पण्डित सुखलाल जी का कथन है कि 'ऐसा लगता है कि **प्रबन्धचिन्तामणि** का कथन महाकालतीर्थ के साथ दिवाकर और सुहस्ति के सम्बन्ध की भ्रांत परम्पराओं से उत्पन्न हुआ है।'^८

आचार्य सिद्धसेन की जीवनी के सम्बन्ध में अनेक कथानक प्रबन्धों में आये हैं जो उनकी तर्कणाशक्ति, प्रखर वैदुष्य एवं उनकी दार्शनिक प्रतिभा को स्पष्टतया रेखांकित करते हैं—

एक कथानक के अनुसार अवन्ती के प्रकाण्ड विद्वान् एवं विविध दर्शनों पर एकाधिकार रखने वाले सिद्धसेन को अपनी विद्वता पर बहुत अभिमान था। वे दृढ़प्रतिज्ञ हो चुके थे कि जो उन्हें शास्त्रार्थ में हरा देगा वे उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेंगे। वादकुशल, वृद्धवादी के वैदुष्य की उन दिनों सर्वत्र चर्चा प्रसरित थी। एक बार वे उज्जयिनी (इसके अवन्ती एवं विशाला नाम भी मिलते हैं) की ओर विहार किये, मार्ग में उनका परिचय सिद्धसेन से हुआ। सिद्धसेन उनकी विद्वता की चर्चा सुन चुके थे, अतएव उन्होंने प्रस्ताव रखा की बहुत समय से वादगोष्ठी करने का मेरा संकल्प है, आप उसे पूरा करें। आचार्य वृद्धवादी, वादगोष्ठी विद्वदमण्डली के सम्मुख करना चाहते थे परन्तु उत्सुक सिद्धसेन के आग्रह पर गोपालकों की मध्यस्थता में आचार्य ने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ प्रारम्भ करते हुए सिद्धसेन ने अपनी सानुप्रास, संस्कृत भाषा में 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा पूर्वपक्ष करके उसे स्थापित किया। गोपालकों को उनका एक भी शब्द आत्मसात नहीं हो सका। वृद्धवादी के पूछने पर कि सिद्धसेन ने क्या कहा, गोपालकों ने कुछ भी न समझ पाने की असमर्थता व्यक्त की। वृद्धवादी ने अपनी ओजपूर्ण किन्तु सुबोधगम्य मधुर भाषा में 'सर्वज्ञसिद्धि' पर वक्तव्य देते हुए कहा कि इनका कहना है कि 'जिन नहीं है' क्या यह सत्य है? गोपालकों ने कहा कि हमारे गाँव में एक जिन चैत्य है उनमें वीतराग सर्वज्ञ विद्यमान हैं। जिन नहीं है, ऐसा कहने वाला यह ब्राह्मण मृषावादी है।^१ तदनन्तर अपनी सार्वजनीन शैली में आचार्य वृद्धवादी ने युक्तिपुरस्सर सर्वज्ञत्व को प्रमाणित किया। सर्वज्ञत्व सिद्धि के बाद वे कर्णप्रिय घिन्दणी छन्द में बोले—

नवि मारियइ नवि चोरियइ परदारह गमणुनिवारयइ ।

थोवाथोवं दाइयइ सग्गि दुकुदुकु जाइयइ ॥ — प्रबन्धकोश-६।

अर्थात् हिंसा न करने से, चोरी न करने से, परदारा सेवन न करने से एवं शुद्ध दान से व्यक्ति स्वर्ग पहुँच जाता है। गोपालक वृद्धवादी की जय-जय का उद्घोष करने लगे सिद्धसेन ने अपनी पराजय स्वीकार करते हुए, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वृद्धवादी से अपना शिष्य बनाने का आग्रह किया। वृद्धवादी ने उन्हें अपना शिष्य बनाया एवं उनका दीक्षा नाम 'कुमुदचन्द्र' रखा।^१ कुमुदचन्द्र शीघ्र ही जैन सिद्धान्तों का पारगामी हो गया। जैनशास्त्र की सार्वभौम एवं व्यापक प्रभावना शिष्य कुमुदचन्द्र में सम्भव है, ऐसा मानकर वृद्धवादी ने विद्वान् सिद्धसेन को आचार्य पद दे कर

उनका पूर्वनाम सिद्धसेन रख दिया। उन्हें गच्छ का दायित्व सौंप आचार्य वृद्धवादी स्वयं अन्यत्र विहार के लिए चले गये। प्रखर वैदुष्य के कारण सिद्धसेन की प्रसिद्धि सर्वज्ञपुत्र के नाम से हुई।

एक दिन सिद्धसेन अवन्ती के राजपथ से कहीं जा रहे थे। 'सर्वज्ञपुत्र की जय हो' कहकर उनकी विरुदावली उच्चघोषों से मार्गवर्ती चतुष्पथों पर बोलता हुआ जनसमूह उनके पीछे-पीछे चल रहा था। राजा विक्रमादित्य जो सामने से आ रहे थे, आचार्य सिद्धसेन को आता देख, उनकी सर्वज्ञता की परीक्षा के लिए मानसिक प्रणाम किया। निकट आने पर सिद्धसेन ने राजा को धर्मलाभ रूप आशीर्वाद दिया। राजा ने कहा आप बिना प्रणाम किये किसे आशीर्वाद दे रहे हैं? सिद्धसेन ने कहा आपने मानसिक नमस्कार किया था उसी के उत्तर में मैंने आशीर्वाद दिया। विक्रमादित्य इससे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें विशाल धनराशि का अनुदान दिया।^{११} सिद्धसेन के उक्त दानराशि को अस्वीकार कर देने से उनकी त्यागवृत्ति से राजा और भी प्रभावित हुए एवं उस राशि को धर्म के प्रचार-प्रसार में प्रयुक्त किया।

एक बार सिद्धसेन ने उज्जयिनी से चित्रकूट की ओर विहार किया। वहाँ उन्होंने पहाड़ के एक ओर विविध औषधियों के चूर्ण से बना एक स्तम्भ देखा। उन्होंने बुद्धिबल से उस स्तम्भ के गंध, रस एवं स्पर्श की परीक्षा की और उनकी विरोधी औषधियों का प्रयोग कर उस स्तम्भ में एक छेद कर दिया। स्तम्भ में हजारों पुस्तकें थीं। पुस्तक के प्रथम पृष्ठ के पढ़ने से ही उन्हें सर्षपमन्त्र और स्वर्णसिद्धियोग नामक दो महान विद्याएँ उपलब्ध हुईं।^{१२} वे आगे पुस्तक पढ़ना चाहते ही थे तभी शासन देवी ने उनसे पुस्तक छीन लिया। सर्षप विद्या प्रभाव से मन्त्र द्वारा जलाशय में प्रक्षिप्त सर्षपकणों के अनुपात में चौबीस प्रकार के उपकरण सहित सैनिक निकलते थे और प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत कर जल में अदृश्य हो जाते थे, एवं हेमविद्या के द्वारा किसी भी धातु को स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता था। सिद्धसेन विहार करते हुए चित्रकूट से पूर्व दिशा की ओर प्रस्थित हुए। अनेक गाँवों का विहरण करते हुए वे कर्मार नगर पहुँचे। वहाँ का शासक देवपाल था। आचार्य से बोध प्राप्त कर वह उनका परमभक्त बन गया। कामरूप देश के नरेश विजयवर्म ने एक बार सैन्यदल के साथ कर्मार पर आक्रमण कर दिया। देवपाल अपनी पराजय से आशंकित हो आचार्य सिद्धसेन के पास पहुँचा और कहा 'गुरुदेव आपका ही आश्रय है, आचार्य ने कहा 'मा स्म विहलो भूः'^{१३} व्याकुल मत हो जिसका मैं सखा हूँ, विजयश्री उसी की है। युद्ध की संकटकालीन स्थिति आने पर आचार्य ने सुवर्णसिद्धि योग से पर्याप्त परिमाण में अर्थ, एवं सर्षपमन्त्र के प्रयोग से विपुल सैन्य समूह का निर्माण कर देवपाल को विजयवर्म पर विजय प्राप्त करने में सहायता की।

विजयोपरान्त देवपाल ने सिद्धसेन का आभार प्रकट करते हुए कहा गुरुदेव! मैं प्रतिद्वन्द्वी के आक्रमण से उपस्थित भय रूपी अंधकार से भ्रान्त हो गया था, आपने सूर्य के समान मेरे तिमिराच्छन्न मार्ग को प्रकाशित किया है अतः आपकी प्रसिद्धि 'दिवाकर' नाम से हो। तभी से आचार्य सिद्धसेन के साथ 'दिवाकर' पद विशेष जुड़ गया।^{१४}

कर्मार नगर में अब सिद्धसेन मुक्तभाव से राज्यसुविधाओं का उपभोग करने लगे। वे हाथी पर बैठते और शिबिका का भी प्रयोग करते। इस सुखोपभोग के कारण उनके साधनाशील जीवन में शैथिल्य की जड़े विस्तार पाने में समर्थ होने लगीं। आचार्य होकर भी वे संघनिर्वहण को जैसे विस्मृत कर दिये थे। धर्मसंघ में चर्चा होने लगी—

दगयाणं पुप्फफलं अणेसणिज्जं गिहत्थकिच्चाइं।

अजया पडिसेवती जइवेसविडंबगा ॥^{१५}

अर्थात् सचित्त जल पुष्प, फल, अनेषणीय आहार का ग्रहण एवं गृहस्थ कार्यो का अयत्नपूर्वक सेवन श्रमणवेश की प्रत्यक्ष विडम्बना है। आचार्य सिद्धसेन के इस कार्यकलाप एवं अपयश की कथा जब आचार्य वृद्धवादी को ज्ञात हुई तो शिष्य को भटकने से रोकने के लिए वे छद्मवेश में कर्मार पहुँचे और राजा की भाँति सुखासन पर बैठे लोगों से धिरे सिद्धसेन से पूछा 'आप बड़े विद्वान् हैं, आप मेरे शंसय को दूर करें, आपकी ख्याति सुनकर आप तक आया हूँ।'^{१६} आचार्य सिद्धसेन ने कहा खुशी से पूछो। तब वृद्धवादी विद्वानों को भी आश्चर्य में डाल देने वाले उच्चस्वर में कहा—

अणु हुल्लीय फुल्ल म तोडहु मन आरामा म मोडहु ।

मण कुसुमहिं अच्चि निरञ्जणु हिण्डइकाइं वणेण वणु ॥^{१७}

आचार्य सिद्धसेन को जब इस अपभ्रंश पद्य का अर्थ समझ में नहीं आया, तब उन्होंने अनादर से इस पद्य का असम्बद्ध एवं अस्पष्ट अर्थ किया, जिसे अस्वीकार करते हुए वृद्धवादी ने सही उत्तर दिया कि 'जीवन रूपी छोटे कोमल फूल वाली मानव देह के जीवनाश रूपी फूलों को तुम राजशासन एवं तज्जन्य गर्व के प्रहार से मत तोड़ो। मन के यम-नियमरूपी आरामों (उद्यानों) को भोग-विलास के द्वारा भंग न करो। मन के सदगुणरूपी पुष्पों के द्वारा निरंजन की पूजा करो। तुम संसार रूपी एक वन से लाभ, सत्कारजन्य मोहरूपी दूसरे वन में क्यों भटकते हो?

अर्थ सुनकर सिद्धसेन ने सोचा ये मेरे गुरु वृद्धवादी तो नहीं। पुनः सचमुच ही मेरे गुरु हैं, ऐसा विचार कर उनके पैरों में गिर क्षमा-याचना की और कहा 'दोषवश

मैंने आपकी अवज्ञा की है अतः क्षमा करें'। यह सुनकर वृद्धवादी ने कहा 'मैंने तुझे जैन-सिद्धान्तों का सम्पूर्ण पान कराया है। मन्द जठराग्नि वाले को रसपूर्ण भोजन की भांति यदि तुझे ही यह सिद्धान्त नहीं पच सका तो फिर दूसरे सर्वथा अल्पसत्व वाले जीवों की बात ही क्या?। सिद्धसेन के प्रायश्चित्त करने की इच्छा प्रकट करने पर आचार्य वृद्धवादी उन्हें योग्य प्रायश्चित्त देकर, अपने आसन पर बिठाकर स्वर्ग की ओर प्रयाण किये।

आचार्य सिद्धसेन संस्कृत के लब्धख्याति विद्वान् थे। एक बार उन्होंने सम्पूर्ण आगम को संस्कृत में अनूदित करने का अपना विचार संघ को सुनाया। संघ के अगुओं ने कहा 'आप प्राकृत आगम का संस्कृत में उल्था करने के विचार एवं वचन से बहुत दूषित हुए हैं, स्थविर इस दोष का शास्त्र द्वारा प्रायश्चित्त जानते हैं। स्थविरों ने कहा कि इस दोष की शुद्धि के लिए आपको पारांचिक प्रायश्चित्त करना चाहिए।^{१८} संघ के इस अन्तर्विरोध के कारण आचार्य सिद्धसेन को मुनिवेश बदलकर बारह वर्ष तक गण से बाहर रहने का कठोर दण्ड मिला। इस पारांचिक नामक प्रायश्चित्त को वहन करते समय आचार्य सिद्धसेन के लिए एक अपवाद था कि बारह वर्ष की इस अवधि में उनसे जैन शासन की प्रभावना का कार्य सम्पादित हो सका तो दण्डकाल की मर्यादा से पूर्व भी उन्हें संघ में सम्मिलित किया जा सकता है।^{१९}

संघमुक्त सिद्धसेन निर्धारित समय के पाँच वर्ष पूर्व अर्थात् सातवें वर्ष में विहरण करते हुए अवन्ती आये। अवन्ती नरेश विक्रमादित्य की सभा में पहुँचकर उन्होंने उनकी स्तुति में चार श्लोक कहा।^{२०} स्तुति सुनकर प्रसन्न राजा ने सदा के लिए उन्हें अपनी सभा में रख लिया। एक दिन सिद्धसेन राजा के साथ शिवमन्दिर में गये। शिवप्रतिमा को बिना प्रणाम किये ही मन्दिर के दरवाजे से लौटते हुए दिवाकर से ऐसा करने का कारण पूछने पर, उन्होंने कहा हे राजन्! यह देव मेरे नमस्कार को सहन नहीं कर पायेगा। विक्रमादित्य ने कहा 'चलें आप नमन करें, क्या होगा हम देखते हैं। अवन्ती नरेश की आज्ञा से शिवप्रतिमा के आगे बैठकर काव्यमयी भाषा में सिद्धसेन ने पार्श्वनाथ की स्तवना आरम्भ की। फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन द्वारा स्तुति काव्य के रूप में महान प्रभावक **कल्याणमंदिरस्तोत्र** का निर्माण हुआ। इस स्तोत्र के ग्यारहवें श्लोक का पाठ करते ही धरणेन्द्र नाम का देव उपस्थित हुआ और उसके प्रभाव से शिवलिंग में धुआँ निकलने लगा, दिन में भी अंधेरा छा गया, पुनः अग्नि की एक ज्वाला के साथ पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्रकट हुई इस घटना से प्रभावित विक्रमादित्य ने बहुत बड़ा उत्सव कराकर सिद्धसेन का उज्जयिनी में प्रवेश कराया और जिन शासन की प्रभावना की। इस

घटना से संघ ने दिवाकर के शेष पाँच वर्ष पूरे होने के पूर्व ही गण में सम्मिलित कर लिया।^{२१}

संघ में सम्मिलित कर लिये जाने के बाद आचार्य सिद्धसेन गीतार्थ शिष्यों के साथ उज्जयिनी से दक्षिण की ओर प्रस्थान किये। गामानुग्राम विचरते हुए वे भृगुकच्छ (भृगुपुर सम्भावित भड़ोच) नगर के एक ऊँचे भाग पर पहुँचे। वहाँ उपस्थित ग्रामीण ग्वालों ने सिद्धसेन से धर्म सुनने की इच्छा प्रकट की। उनके आग्रह पर दिवाकर ने तुरन्त ही प्राकृत भाषा में उस सभा के योग्य एक रासा बनाकर ताल के साथ तालियाँ बजाते एवं वृत्ताकार धूमते हुए गाकर सुनाया—

.नविमारियइ नविचोरियइ, परदारह संगुनिवारयइ।

थोवमवि थोवं दाऽअइ तउ सग्मिदु गुडुगुएररइसइ।।^{२२}

दिवाकर के इस वचन से ज्ञानप्राप्त उन ग्वालों ने उनकी स्मृति के लिए तालरासक नामक एक गाँव बसाया। सिद्धसेन ने वहाँ एक मन्दिर बनवाकर उसमें ऋषभदेव की मूर्ति स्थापित कराया जिसे आज भी लोग पूजते हैं।

इसी क्रम में प्रभावना करते हुए आचार्य दिवाकर भृगुकच्छ गये। वहाँ बलमित्र का पुत्र धनञ्जय राजा था। उसने आचार्य का पूर्ण सत्कार किया। जब धनञ्जय शत्रुओं से आक्रांत हुआ तो सिद्धसेन ने सैन्यनिर्माण की अपनी कला से उसकी सहायता कर उसे विजयश्री दिलाई। धनञ्जय भी अवन्ती नरेश विक्रमादित्य एवं कर्मार के राजा देवपाल की तरह आचार्य सिद्धसेन का परमभक्त बन गया।

जीवन के सन्ध्याकाल में आचार्य सिद्धसेन दक्षिणापथ के प्रतिष्ठानपुर (पेंठन, पृथ्वीपुर) पहुँचे। यहाँ आयुष्य बल को क्षीण जानकर योग्य शिष्य को अपने पद पर स्थापित कर प्रयोपवेशन (अनशन) पूर्वक मरकर वे स्वर्गवासी हुए।^{२३}

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के जीवन से सम्बन्धित जो भी तथ्य हमें उपलब्ध हैं वे मुख्यतः प्रबन्धों पर ही आधारित हैं, जिनमें यत्र-तत्र कतिपय अन्तर भी परिलक्षित होते हैं, शेष दो साधन उल्लेख और रचनाएँ उनके जीवन पर कम, उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों के पौर्वापर्य सम्बन्ध पर अधिक प्रकाश डालती हैं जिसे हम उनकी रचनाओं के क्रम में यथास्थान व्याख्यायित करने का प्रयास करेंगे।

सन्दर्भ :

१. i श्रीकात्यायनगोत्रीयो देवर्षिब्राह्मणाङ्गजः ।
देवश्रीकुक्षिभूर्विद्वान् सिद्धसेन इति श्रुतः ॥ — **प्रभावकचरित** 'वृद्धवादिसूरि चरितम्' - ३९, सम्पा०जिनविजय मुनि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद, वि०सं० १९९७। (क्रमशः)
- ii. तस्यराज्येमान्यः कात्यायनगोत्रावतंसो देवर्षिद्विजः ।
तत्पत्नी देवश्रीसिका। तयोः सिद्धसेनोनाम पुत्रः ॥ — **प्रबन्धकोश**-राजशेखर सूरि, सम्पादक-जिनविजय, सिंधी जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सं० १९९७, पृष्ठ-५।
2. Siddhasena Divākara was a Yāpanīya and that he hailed from the South, especially Karnātakā, Dr. A.N.Upadhye '*Siddhasena's Nyāyāvātāra and other works*, Introduction. p. XV. Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay. 1971.
3. This is born out by a latter *Prabandha* that Siddhasena came from the south. Karnataka and his name was Bhatta Diwākara. *ibid*- p.XIII, XIV.
4. The term Sanmati, another name of Mahāvīra and therefore rightly used in the title of the *Sanmatitarka* or *sūtra*, is found in the *Nāmamālā* of Dhanañjaya which is more popular in the south especially in Karnataka. *ibid*. XVI.
५. किसी भी एकान्त पक्ष को स्वीकार करने में दोष आता है; इस दोष को स्पष्ट करने के लिए कुन्दकुन्द (प्रवचनसार, १/४६) एवं सिद्धसेन (सन्मति, का० ११७-१८) दोनों ने संसार एवं मोक्ष की अनुपपत्ति की कल्पना का एक सा उपयोग किया है। समन्तभद्र ने भी अनेकान्त दृष्टि की पुष्टि में यह कल्पना की है।
६. वादिदेवसूरि, **पार्श्वनाथचरित**, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, वीर नि०सं० २४४२, १/२२।
७. वही पृष्ठ-XVII.
८. **सन्मतिप्रकरण** - प्रस्तावना, पृष्ठ-३०।
९. भवद्रामे वीतरागः सवज्ञोऽस्ति नवा ततः । आहुस्तेऽस्य वचे मिथ्या जैन चैत्ये जिने सतिः । — **प्रभावकचरित**, 'वृद्धवादिसूरिचरितम्' - ४९।
१०. i अदीक्षयत जैनेन विधिना तमुपस्थितम् । नाम्ना कुमुदचन्द्रश्च स चक्रे वृद्धवादिना ।
- **प्रभावकचरित**, ८वां प्रबन्ध-५७।

- ii. **प्रबन्धकोश**, पृष्ठ-१६।
११. धर्मलाभ इति प्रोक्ते दूरादुद्धृतपाणये, सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः।
— **प्रबन्धकोश**, ६४।
१२. एकासर्षप विद्या अपराहेमविद्या । —वही, पृष्ठ-१७।
१३. **प्रबन्धकोश**, पृष्ठ-१७।
१४. ततो दिवाकर इतिख्याताख्या भवतु प्रभोः। ततः प्रभृति गीतः सिद्धसेन दिवाकरः।
प्रभावकचरित, प्रबन्ध, ८/८४।
१५. **प्रबन्धकोश**, १३, पृष्ठ-१७।
१६. प्राह च प्राप्तरूप। त्वं संदेहं मे निवर्तय। आयातस्य तव ख्यातिश्रुतेर्दूरदिगन्तरात्।
प्रभावकचरित, प्र० ८/८९।
१७. (अ) **प्रभावकचरित**, प्रबन्ध ८/९; (ब) **प्रबन्धकोश**, १४।
१८. किं संस्कृत कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्तस्तीर्थकरा गणधरा वा।
यदधर्ममागधे नागमान कृषत? तदेव जल्पतस्तव महत्प्रायश्चित्तमापन्नम् ॥
(अ) **प्रबन्धकोश**, पृष्ठ १८; (ब) **प्रभावकचरित**, प्रबन्ध ८/११८।
१९. जैनप्रभावनां कांचिद्भ्रुतां विदधाति चेत।
तदुक्तावधिमध्येऽपि लभते स्वं पदं भवान् ॥
प्रभावकचरित, प्रबन्ध ८/११९।
२०. **प्रभावकचरित**, प्रबन्ध, ८/१२५-२८।
२१. **प्रभावकचरित**, प्रबन्ध, ८/१५१।
२२. **प्रभावकचरित**, प्रबन्ध, ८/६०।
२३. आयुः क्षयं परिज्ञाय तल प्रायोपवेशनात् ।
योग्यं शिष्यं पदेन्यस्य सिद्धसेनदिवाकरः ॥ —वही, ८/७०।



अध्याय-३

सिद्धसेन दिवाकर की कृतियाँ

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में सिद्धसेन के नाम पर जो ग्रन्थ चढ़े हुए हैं उनमें कितने ग्रन्थ ऐसे हैं जो सिद्धसेन दिवाकर के ग्रन्थ न होकर उत्तरवर्ती सिद्धसेनों की कृतियाँ हैं, जैसे— (१) जीतकल्पचूर्ण, (२) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका (३) प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति, (४) एकविंशतिस्थानप्रकरण एवं (५) जिनसहस्रनामस्तोत्र^१ (शक्रस्तव) नामक गद्यस्तोत्र। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका सिद्धसेन नाम के साथ उल्लेख तो मिलता है परन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं, जैसे— (१) बृहत्षड्दर्शनसमुच्चय, हो सकता है कि यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरि का षड्दर्शन समुच्चय ही हो और किसी गलती से सूरत के सेठ भगवान दास की प्राइवेट लाइब्रेरी की रिपोर्ट में दर्ज हो गया हो, जहाँ से जैन ग्रन्थावली में लिया गया है। इस पर गुणरत्न टीका का भी उल्लेख है, और हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय पर भी गुणरत्न टीका है। (२) विषोग्रहशमन विधि, जिसका उल्लेख उग्रदित्याचार्य (विक्रम ९वीं शताब्दी) के कल्याणकारक वैद्यक ग्रंथ (२०-८५) में पाया जाता है,^२ (३) नीतिसारपुराण, जिसका उल्लेख केशवसेनसूरि (वि०सं० १६८८) कृत कर्णामृतपुराण^३ (श्लोक सं० १५६३००) में मिलता है, एवं (४) प्रमाणद्वात्रिंशिका।^४ सिद्धसेन दिवाकर के जो उपलब्ध ग्रन्थ हैं, वे हैं—

१. सन्मतिसूत्र
२. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका
३. न्यायावतार
४. कल्याणमन्दिरस्तोत्र।

१. सन्मति सूत्र

सन्मतिसूत्र जैनवाङ्मय का एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण ग्रन्थ है जो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समानरूप से माना जाता है। न्याय और दर्शन का यह अनूठा ग्रन्थ है जिसकी गणना जैन शासन के दर्शन प्रभावक ग्रन्थों में की जाती है। श्वेताम्बरों में यह 'सम्मतितर्क' सम्मतितर्कप्रकरण तथा सम्मतिप्रकरण जैसे

नामों से अधिक प्रसिद्ध है। जिनमें **सन्मति** की जगह **सम्मतिपद** अशुद्ध है और वह प्राकृत 'सम्मइ' पद का गलत संस्कृत रूपान्तर है। पण्डित सुखलाल जी और पण्डित बेचरदास जी ने **सन्मति-प्रकरण** की प्रस्तावना में इस गलती पर यथेष्ट प्रकाश डाला है, और यह बतलाया है कि 'सन्मति' भगवान महावीर का ही एक अन्य नाम है जो दिगम्बर परम्परा में प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रहा है।^५ यह तथ्य **धनञ्जय** की **नाममाला** में भी उल्लिखित है।^६ सन्मति नाम, ग्रन्थ के नाम के साथ योजित होने से महावीर के सिद्धान्तों के साथ जहाँ ग्रन्थ के सम्बन्ध को दर्शाता है, वहाँ श्लेषरूप से श्रेष्ठ मति अर्थ का सूचन करना हुआ ग्रन्थकर्ता की योग्यता को भी व्यक्त करता है और इसलिए औचित्य की दृष्टि से सम्मति के स्थान पर सन्मति नाम ही उचित प्रतीत होता है। तदनुसार ही पण्डित सुखलालजी एवं पं० बेचरदास जी ने ग्रन्थ का '**सन्मति प्रकरण**' नाम दिया है। उन्होंने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में इस बात को भी स्वीकार किया है कि सम्पूर्ण सन्मति ग्रन्थ सूत्र कहा जाता है। भावनगर की श्वेताम्बर सभा से वि०सं० १९६५ में प्रकाशित मूल प्रति में भी "श्री संमत्सूत्रं समाप्तमिति भद्रम्" वाक्य के द्वारा इसे सूत्र नाम के साथ प्रकट किया गया है।

वृत्ति एवं टीकाएँ

सन्मतिसूत्र पर चार वृत्तियाँ लिखी गई हैं— (१) मल्लवादी (वि०सं० ४१४) द्वारा रचित-ग्रन्थाग्र ७०० श्लोक। हरिभद्र की **अनेकान्तजयपताका**^७ में इस वृत्ति के एक उद्धरण का सूचन है। (अनुपलब्ध)।

(२) राजगच्छ के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य अभयदेव सूरि (११वीं शती) द्वारा रचित '**तत्त्वबोधविधायिनी**' नामक वृत्ति। ग्रन्थाग्र-२५००० श्लोक। इस वृत्ति का दूसरा नाम '**वादमहार्णव**'^८ भी है। संस्कृत भाषा में गद्यरूप में लिखित इस वृत्ति के श्लोक बिखरे हुए हैं। गद्यशैली **प्रमेयकमलमार्तण्ड** एवं **न्यायकुमुदचन्द्र** से मिलती-जुलती है। यह इसकी सबसे बड़ी वृत्ति है। (प्रकाशित संवत्, १९६७)।

(३) दिगम्बर आचार्य सन्मति द्वारा रचित '**सम्मतिविधरण**' नामक एक वृत्ति का उल्लेख मिलता है। वादिराज ने अपने **पार्श्वनाथचरित** (ई०सं० ९४७) में इस वृत्ति का उल्लेख किया है^९ किन्तु यह वृत्ति अनुपलब्ध है।

(४) अज्ञात लेखक द्वारा रचित एक वृत्ति^{१०} जिसका सूचन **बृहत्टिप्प्याणिका** नं० ३५८ में मिलता है जो जैनसाहित्य संशोधक भाग १, २ पूना से १९२५ में प्रकाशित है।

भाषा एवं रचनाशैली

सन्मति की भाषा प्राकृत है। वह शौरसेनी, मागधी या पैशाची न होकर महाराष्ट्री प्राकृत है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री^{१२} का मत है कि **सन्मति** की प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत है क्योंकि इसमें सर्वत्र 'य' श्रुति का पालन हुआ है। किन्तु दक्षिण भारत में रचित और सुरक्षित शौरसेनी प्राकृत की 'द' श्रुति का प्रयोग **सन्मति** में नहीं है। अतः ऐसा लगता है कि इस ग्रन्थ की रचना उत्तर या पश्चिम भारत में प्रचलित महाराष्ट्री प्राकृत में हुई होगी।

सन्मति सूत्र के अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर की शेष अन्य रचनाएँ संस्कृत में हैं, यही एक मात्र रचना प्राकृत में है। इसके क्या कारण हो सकते हैं इस सन्दर्भ में पण्डित सुखलाल जी एवं पण्डित बेचर दास जी ने **सन्मति-प्रकरण** की प्रस्तावना^{१३} में यथेष्ट प्रकाश डाला है एवं बतलाया है कि 'जैन साहित्य में वाचक उमास्वाति की कृतियाँ ही संस्कृत में रचित प्रथम जैन कृतियाँ हैं, उनके पहले संस्कृत में किसी जैन आचार्य ने ग्रन्थ लिखा हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। उनके द्वारा जैन साहित्य में संस्कृत भाषा का द्वार खुलने पर प्राचीन प्रथा के अनुसार प्राकृत ग्रन्थ रचना के साथ-साथ संस्कृत में भी ग्रन्थ रचना होने लगी। सिद्धसेन दिवाकर जन्म से ही संस्कृत भाषा तथा दार्शनिक विषयों के अभ्यासी थे। जैन दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् उन्होंने प्राकृत का भी अभ्यास तो कर लिया परन्तु विशिष्ट संस्कार संस्कृत के ही थे। इस कारण उनकी संस्कृत कृतियाँ अधिक मिलती हैं।' **सन्मति** की रचनाशैली पद्यमय है एवं सभी पद्य आर्याछन्द में हैं। टीका की रचना पद्य में न होकर गद्य में है, कहीं-कहीं जो पद्य मिलते हैं, वे टीकाकार के नहीं हैं अपितु मात्र उद्धरण के रूप में लिए गये हैं।

ग्रन्थ परिमाण:

इसमें कुल १६६ गाथाएँ हैं। १६७ गाथाओं में होने के भी उल्लेख मिलते हैं। किन्तु एक गाथा^{१४} जो अन्तिम गाथा के पहले आयी है, उस पर कोई टीका न होने से वह प्रक्षिप्त है, यह स्पष्ट है। यह ग्रन्थ तीन विभागों में तीन काण्डों के रूप में मिलता है— प्रथमकाण्ड, द्वितीयकाण्ड एवं तृतीयकाण्ड। इन काण्डों का विषयसूचक कोई विशेषण नहीं मिलता। मात्र मूल पद्यों की एक लिखित एवं मुद्रित प्रति में प्रथम काण्ड का 'नयकंड' (नयकंड सम्मत्तं), द्वितीय काण्ड का 'जीवकंडय' के नाम से निर्देश किया गया है, परन्तु तीसरे विभाग के अन्त में न तो काण्ड का कोई नामकरण किया गया है और न काण्ड शब्द का ही प्रयोग है। पण्डित सुखलाल जी और पण्डित बेचरदस जी की राय में यह नामकरण ठीक नहीं है।^{१५}

क्योंकि द्वितीयकाण्ड में जीव के स्वरूप की चर्चा न होकर आदि से अन्त तक मुख्य चर्चा ज्ञान की ही है। इसलिए इस काण्ड का नाम ज्ञानकाण्ड या उपयोगकाण्ड समुचित होगा। पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार^{१६} ने अपनी पुस्तक 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' में पण्डित सुखलाल जी के विचारों से मतवैभन्न रखते हुए जीवकाण्ड का, जीवकाण्ड ही उचित नाम दिया है। हम यहाँ विषय विस्तार के भय से काण्डों के नामकरण की सार्थकता पर बल न देकर ग्रन्थ के तीन भागों को नयकाण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं ज्ञेयकाण्ड के रूप में बाँटकर ग्रन्थ के केन्द्रीय विषयवस्तु की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

सन्मति का केन्द्रीय विषय 'अनेकान्त' है। अनेकान्त की चर्चा में सिद्धसेन ने अनेकान्त का स्वरूप, दर्शानान्तर में उपलब्ध अनेकवाद के साथ उसकी तुलना, अनेकान्त से फलित होने वाले वाद, अनेकान्त के आधार पर की गई ज्ञान-मीमांसा, अनेकान्त एवं एकान्त के उदाहरण उसकी पूर्णता और विफलता आदि मुख्य बिन्दुओं पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

प्रथमकाण्ड में ग्रन्थकार ने अनेकान्तवाद से फलित होने वाले नयवाद एवं सप्तभंगी की मुख्यरूप से चर्चा की है। नयवाद में अनेकान्तदृष्टि की आधारभूत दो दृष्टियों-सामान्यग्राही अर्थात् द्रव्यास्तिक एवं विशेषग्राही अर्थात् पर्यायास्तिक का पृथक्करण करके उनमें नयों का बंटवारा किया है।^{१७} सिद्धसेन ने आगमप्रसिद्ध सात नयों को छः नयों में संकलित किया एवं प्राचीन परम्परा के अनुसार द्रव्यास्तिक दृष्टि की जो सीमा ऋजुसूत्र नय तक थी उसे व्यवहारनय तक ही सीमित किया। अतः **सन्मतिसूत्र** के अनुसार नैगम कोई स्वतन्त्र नय नहीं है। सिद्धसेन ने संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध एवं एवंभूत ये छः ही स्वतन्त्र नय माने हैं, उनके अनुसार द्रव्यास्तिक नय की मर्यादा व्यवहार नय तक है तथा शेष नय पर्यायास्तिक की सीमा में आते हैं। सप्तभंगी की चर्चा करते हुए सिद्धसेन ने भंगों की संयोजना विविध अपेक्षाओं के आधार पर की है। कुछ नयों में चार निक्षेपों के विभाजन के प्रसंग में भर्तृहरि सम्मत शब्द ब्रह्मवाद, बौद्धों के क्षणिकवाद आदि की भी चर्चा की है। इसी क्रम में उन्होंने जैनेतर अन्य सम्प्रदायों सांख्य, वैशेषिक और बौद्ध (सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक एवं माध्यमिक)^{१८} आदि सम्मत सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, तत्त्वाद्वैत, द्रव्याद्वैत, प्रधानाद्वैत, शब्दाद्वैत और ब्रह्माद्वैत आदि वादों का निरसन भी किया है।^{१९} बत्तीसवीं गाथा की व्याख्या में व्यञ्जक पर्याय की चर्चा के प्रसङ्ग में शब्द तथा अर्थ एवं वाच्य-वाचक सम्बन्धों की विवेचना भी की है। इस सन्दर्भ में वैयाकरणों के स्फोटवाद वैशेषिकों के अनित्यवर्णवाचकत्ववाद, मीमांसकों के नित्यवर्ण वाचकत्ववाद एवं सम्बन्धनित्यत्ववाद को चर्चा करते हुए अनेकान्तदृष्टि से सबका जैनदर्शन सम्मत स्वरूप दिखलाया गया है।

ऐसा लगता है कि आचार्य ने सन्मति के प्रस्तुत काण्ड की रचना आगम ग्रन्थों के आधार पर एवं आगमिक परिभाषाओं का आवलम्बन लेकर की है, यह प्रस्तुत काण्ड के भंगों की व्याख्या से परिलक्षित होता है। भंगों का वर्णन करते समय उन्होंने भगवतीसूत्र गत आगमिक क्रम एवं परिभाषा का उपयोग किया है, जैसा कि उमास्वाति ने 'अर्पितानर्पितसिद्धेः'^{२०} सूत्र के भाष्य में किया है। सिद्धसेन ने नयकाण्ड के अन्त में 'एगे आया एगे दण्डे य होइ किरिया य'^{२१} सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वमत का विधान स्थानांगसूत्र^{२२} में आये पाठ का आलम्बन लेकर किया है।

द्वितीय ज्ञानकाण्ड में अनेकान्तस्वरूप का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने अनेकान्त के अंगभूत-दर्शन एवं ज्ञान की मीमांसा की है। इस मीमांसा में उन्होंने अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय देते हुए अपने उपयोगाऽभेदवाद' की स्थापना की है। केवलदर्शन और केवलज्ञान की उत्पत्ति क्रम से होती है, ऐसा मत पहले से आगम-परम्परा में प्रसिद्ध था, इसके अतिरिक्त इन दोनों की उत्पत्ति युगपद् होती है, ऐसा भी मत प्रचलित था। इन दोनों मतों के सामने सिद्धसेन ने अपना अभेदवाद रखा। उन्होंने क्रमवादिता एवं युगपद्वादिता में दोष^{२३} दिखाते हुए अभेदवाद या एकोपयोगवाद की स्थापना की है। इस क्रम में ज्ञानावरण और दर्शनावरण का युगपद् क्षय मानते हुए यह भी बतलाया है कि दो उपयोग एक समय कहीं नहीं होते और केवली में वे क्रमशः भी नहीं होते। ज्ञान और दर्शन उपयोगों का भेद मनःपर्याय ज्ञान पर्यन्त अथवा छद्मावस्था तक ही चलता है, केवल ज्ञान हो जाने पर कोई भेद नहीं रहता। चूंकि केवली नियम से अस्पृष्ट पदार्थों को जानता और देखता है इसलिए भेद के बिना ही अभेदरूप से ज्ञान और दर्शन सिद्ध होते हैं।^{२४} इस प्रकार सिद्धसेन केवली के ज्ञान दर्शनोपयोग विषय में अभेदवाद के पुरस्कर्ता हैं। टीकाकार अभयदेवसूरि और ज्ञानबिन्दु के कर्ता उपाध्याय यशोविजय ने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है। ज्ञानबिन्दु^{२५} में उनके इस वाद का 'श्रीसिद्धसेनोपज्ञानव्यमते' के रूप में भी उल्लेख मिलता है।

अनेकान्त दृष्टि से ज्ञेय तत्त्व कैसा होना चाहिए इसकी चर्चा मुख्यतया तीसरे 'ज्ञेय काण्ड' में की गई है। साथ ही अनेकान्तवाद का उपपादन करने वाले दूसरे भी अनेक विषयों को इसमें समाहित किया गया है।

सिद्धसेन ने भी सामान्य और विशेषवाद, अस्तित्व और नास्तित्ववाद, आत्मस्वरूपवाद, द्रव्यगुण-भेदाभेदवाद, काल आदि पाँच कारणवाद, कार्यकारण-भेदाभेदवाद एवं आत्मा के अस्तित्व व नास्तित्व प्रवण छः वादों का विस्तृत तथा

स्पष्ट निरूपण करते हुए उनके गुण-दोषों पर भी सम्यक् प्रकाश डाला है और अन्त में अनेकान्त की स्थापना की है। अनादि में तात्त्विक प्ररूपणा किस प्रकार की जाय इसका निदर्शन करते हुए एवं अनेकान्त रूप जिनवचन की कल्याण कामना करते हुए सिद्धसेन ने ग्रन्थ का समापन किया है।

सन्मति के अतिरिक्त सिद्धसेन के अन्य ग्रन्थों **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, **न्यायावतार** एवं **कल्याणमंदिर स्तोत्र** के समय को लेकर तथा सिद्धसेन दिवाकर उनके कर्ता हैं या नहीं? इस प्रश्न को लेकर अधिक विवाद खड़ा हुआ है परन्तु **सन्मति** उनकी रचना है इस विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं है, यह निर्विवाद है। परन्तु पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार यह मानते हुए भी कि **सन्मति** सिद्धसेन दिवाकर की निर्विवाद कृति है, उन्हें पूज्यपाद के उत्तरवर्ती मानते हुए एवं उनका काल विक्रम की छठी शताब्दी^{२६} का तृतीय चरण निर्धारित करते हुए उन्हें दिगम्बर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं,^{२७} जो कि समीचीन नहीं है। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि **सन्मति** में ज्ञानदर्शनोपयोग के अभेदवाद की जो खास बात है वह दिगम्बर मान्यता के अधिक निकट है, एवं दिगम्बरों के युगपदवाद पर से ही फलित होती है न कि श्वेताम्बरों के क्रमवाद से।^{२८} इसलिए सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं।

पण्डित मुख्तार ने सिद्धसेन को दिगम्बर सिद्ध करने के लिए अन्य तर्क भी दिए हैं। उनकी मान्यता है कि **सन्मतिसूत्र** का उल्लेख जिनसेन, हरिसेन, वीरसेन^{२९} आदि आचार्यों के द्वारा होने से वे दिगम्बर सम्प्रदाय के ही सिद्ध होते हैं, किन्तु श्री मुख्तार जी का यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि जिनसेन और हरिषेण जिन्होंने सिद्धसेन का उल्लेख किया है वे दोनों ही दिगम्बर परम्परा के न होकर यापनीय परम्परा के थे और उन्हीं प्रभावों के कारण **षट्खण्डागम** की टीका में उनका उल्लेख हुआ है, इससे सिद्धसेन के दिगम्बर परम्परा में होने की सिद्धि नहीं होती है। यदि आचार्य सिद्धसेन दिगम्बर परम्परा के होते तो उनके ग्रन्थों में स्त्री मुक्ति, केवलीभुक्ति या सर्वज्ञभुक्ति का खण्डन होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं है। सम्भवतः इन्हीं विरोधों से अवगत होकर प्र००ए०ए०उपाध्ये ने उन्हें यापनीय सिद्ध करने का प्रयास किया है।

अतः किन्हीं ठोस तर्कों के अभाव में ये सभी प्रयास अप्रामाणिक होने से दिगम्बर आचार्यों को पहले एवं श्वेताम्बर आचार्यों को बाद में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि का ही परिचायक है।

द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका

द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका आचार्य सिद्धसेन द्वारा रचित बत्तीस-बत्तीस पद्यों की बत्तीस रचनाएँ हैं, जिनमें २१ उपलब्ध हैं। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाएँ भावनगर की जैनधर्म प्रसारक सभा से वि०सं०१९६५ में प्रकाशित हैं। उनमें जिस क्रम में बत्तीसियाँ हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसी क्रम में उनकी रचना नहीं हुई होगी। बाद में लेखकों या पाठकों ने वह क्रम निश्चित किया होगा। इन बत्तीसियों में होने तो चाहिए ३२-३२ पद्य पर किन्हीं-किन्हीं में पद्यों की संख्या कम है। बत्तीस-बत्तीस के हिसाब से बाइस बत्तीसियों के कुल ७०४ पद्य होने चाहिए किन्तु ६९५ पद्य ही उपलब्ध हैं। २१वीं बत्तीसी में एक पद्य अधिक है, तो ८, ११, १५ और १९वीं बत्तीसियों में पद्यों की संख्या ५२ से कम है। पद्यों की कमोबेश संख्या का कोई स्पष्ट कारण उपलब्ध नहीं होता।^{३०}

बत्तीसियों की विषयवस्तु, भाषा, शैली, आदि को देखते हुए ऐसा लगता है कि ये उस युग की रचनाएँ होंगी जब संस्कृत भाषा का विकास अपने चरमोत्कर्ष पर रहा होगा। जिस समय वैदिक दर्शनों के साथ-साथ महायान आदि बौद्धधर्म की शाखाओं के अनुयाइयों में पुरजोर वाद-विवाद होता रहा होगा।

भाषा-शैली

बत्तीसियों की भाषा संस्कृत है। पद्यों का बन्ध कालिदास के पद्यों की तरह सुसंश्लिष्ट है। बत्तीसियों में अनुष्टुप, उपजाति, पृथ्वी, आर्या, पुष्पिता, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता एवं शालिनी आदि १७ छन्दों का उपयोग किया गया है।

टीकाएँ

उपलब्ध २१वीं द्वात्रिंशिका पर सोलहवीं शती के उदयसागर की टीका है। इसके अतिरिक्त **न्यायावतार** जिसे कतिपय प्रबन्ध २२वीं द्वात्रिंशिका के रूप में परिगणित करते हैं, पर हरिभद्र (ई०सन् ७४०-७८५) एवं सिद्धर्षि (नवीं शती) की टीकाएँ मिलती हैं। **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** का 'विंशतिद्द्वात्रिंशिका' नाम भी मिलता है।

विषयवस्तु

विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करने पर प्राप्त बत्तीसियों को स्तुत्यात्मक, समीक्षात्मक एवं वर्णनात्मक इन तीन वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम पाँच, ग्यारहवीं एवं इक्कीसवीं ये सात स्तुत्यात्मक, छठी एवं आठवीं समीक्षात्मक तथा

शेष सभी दार्शनिक या वर्णनात्मक हैं। स्तुत्यात्मक सात बत्तीसियों में ग्यारहवीं बत्तीसी किसी राजा की स्तुति में लिखी गयी है, शेष सब महावीर की स्तुति में लिखी गयी है। इन स्तुतियों में स्तुति के बहाने जैनतत्त्वज्ञान के विविध आयामों एवं जैन आचार के विशिष्ट अंशों को भी समाहित कर लिया गया है।^{३१}

दूसरी-तीसरी द्वात्रिंशिका में सिद्धसेन के तत्त्वविषयक चिन्तन की अपार सामर्थ्य दृष्टिगोचर होती है।^{३२} तीसरी में गीता के पुरुषोत्तम की भावना का महावीर में आरोपण एवं चौथी द्वात्रिंशिका में विषयभेद होने पर भी शब्दबन्ध और नाद की समानता के कारण कालिदासकृत कुमारसम्भव (सर्ग-४) के रतिविलाप जैसी समरूपता प्रतीत होती है। एक से पाँच तक की द्वात्रिंशिकाएँ वैसे तो अखण्ड सी प्रतीत होती हैं, पर उनकी सूक्ष्म विवेचना करने पर ऐसा लगता है कि इनकी रचना स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग हुई होगी एवं बाद में एक जगह व्यस्थित कर दी गई होगी। पाँचवीं बत्तीसी यद्यपि बत्तीस श्लोक जितनी एक छोटी सी कृति है फिर भी उसमें गृहस्थाश्रम, गृहत्याग, कठोर साधना के लिए वनविहार, भयंकर परीषह और उनपर विजय प्राप्त दिव्य ज्ञान और उसके द्वारा लोगों में किया गया धर्म प्रचार आदि बातें वर्णित हैं।

स्तुत्यात्मक ग्यारहवीं बत्तीसी द्वात्रिंशिका के अन्त में गुणवचनद्वात्रिंशिका नाम मुद्रित है, जिसमें किसी राजा के सम्मुख उपस्थित होकर^{३३} स्तुति की गई है, ऐसा परिलक्षित होता है।

छठी बत्तीसी में आप्त की समीक्षा की गयी है। इसमें प्राचीन मान्यताओं से हटकर कठोर एवं तलस्पर्शी समालोचना के आधार पर महावीर को ही आप्त के रूप में स्वीकार किया गया है।

वर्णनात्मक बत्तीसियों में सातवीं जो वादकला का प्रतिपादन करती है, को वादोपनिषद् नाम दिया गया है। नवीं, वेदवाद नामक बत्तीसी में औपनिषदिक ब्रह्मतत्त्व का ऋग्वेद एवं श्वेताश्वतर उपनिषद् के आधार पर, वर्णन किया गया है। यह वर्णन कहीं-कहीं विरोध गर्भित भी है।

१०वीं बत्तीसी में जिनोपदेश का वर्णन है जिसमें आर्त और रौद्र ध्यान के साथ-साथ शुक्ल ध्यान का वर्णन किया गया है। किन्तु इसमें श्वेताश्वतरोपनिषद् एवं गीता में वर्णित आसन, प्राणायाम आदि प्रक्रियाओं का भी दिग्दर्शन है। यह बत्तीसी योगसूत्र के अपर और पर वैराग्य का भी पृथक्करण करती है।^{३४}

ग्यारहवीं न्यायदर्शन, तेरहवीं सांख्य, चौदहवीं वैशेषिक एवं पन्द्रहवीं बत्तीसी बौद्धों के शून्यवाद के मन्तव्यों की समीक्षा करती है। सांख्य के वर्णन में

ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** से अलग^{३५} किसी ग्रन्थ एवं बौद्ध दर्शन के वर्णन में नागार्जुन के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विज्ञानवादी ग्रन्थों का समावेश किया गया लगता है।

सोलहवीं बत्तीसी नियतिवाद से सम्बन्धित है एवं सत्रहवीं से बीसवीं तक की बत्तीसियां कोई स्पष्ट निर्देश नहीं करतीं फिर भी उनका कथ्य जैन-दर्शन ही है यह बतलाने में सक्षम हैं। १८वीं शताब्दी में कर्ता ने अनुशासन (शिक्षा) करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की तरफ ध्यान आकर्षित किया है, जिसमें देश, काल, परम्परा, आचार्य, वय और प्रकृति मुख्य हैं। इसमें यथास्थान शैक्ष अर्थात् अध्येता के साथ-साथ, आचार तथा आसेवन परिहार आदि जैन पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। उन्नीसवीं बत्तीसी के प्रारम्भ में ज्ञानदर्शन चारित्ररूप मोक्षमार्ग^{३६} का निर्देश एवं पश्चातवर्ती बत्तीसियों में षट्द्रव्य विषयक द्रव्यमीमांसा एवं सूक्ष्मज्ञान मीमांसा भी विवेचित है।

बीसवीं बत्तीसी में सिद्धसेन ने महावीर का शासन कैसा है, इसे स्पष्ट करते हुए उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सिद्धान्त को ही वर्धमान का शासन बतलाकर उसकी विवेचना की है।^{३७}

न्यायावतार जिसे २२वीं द्वात्रिंशिका के रूप में भी परिगणित कर लिया जाता है,^{३८} वह एक स्वतन्त्रकृति है और इसमें मुख्यतः प्रमाण आदि या ज्ञानमीमांसा की चर्चा की गई है। इसमें जैनदृष्टि से पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त हेत्वाभास आदि के लक्षणों के साथ नयवाद और अनेकान्तवाद के बीच अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है।

ये द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाएँ जिस क्रम से प्रकाशित हुई हैं, उसी क्रम से उनकी रचना नहीं हुई है। बाद में लेखकों ने अथवा पाठकों ने वह क्रम निश्चित किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इन द्वात्रिंशिकाओं के परिमाण में न्यूनाधिक्य मिलता है। बत्तीस-बत्तीस के हिसाब से कुल ७०४ पद्य होना चाहिए, परन्तु उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओं में कुल ६९५ पद्य ही मिलते हैं। २१वीं द्वात्रिंशिका में एक पद्य अधिक (३३पद्य) एवं ८, ११, १५ और १९वीं द्वात्रिंशिका में बत्तीस से भी कम पद्य हैं। ऐसा लगता है कि द्वात्रिंशिकाओं की यह कमोबेश संख्या उनके रचनासमय के अलग-अलग होने के कारण है। यही विचार पण्डित सुखलाल जी संघवी ने अपने '**सन्मतिप्रकरण**'^{३९} की प्रस्तावना में व्यक्त किए हैं। उनकी मान्यता है कि 'ये सभी बत्तीसियाँ सिद्धसेन के जैन दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् ही लिखी गई हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सम्भव है उन्होंने इनमें से कुछ बत्तीसियाँ पूर्वाश्रम में

भी रची हों और बाद में उन्होंने या उनके शिष्यों ने उनकी इन सभी कृतियों का संग्रह किया हो।^{१५०}

इसी सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेन की कृति हैं, या किसी अन्य की।

प्रथम पाँच द्वात्रिंशिकाओं में से पांचवीं द्वात्रिंशिका के ३२वें श्लोक^{१५१} एवं २१वीं द्वात्रिंशिका के ३१वें श्लोक में^{१५२} सिद्धसेन का नाम आया है। परन्तु प्रथम पाँच द्वात्रिंशिकाएँ, जिन्हें पं० सुखलाल जी प्रभृत विद्वानों ने प्रथम वर्ग में रखा है, का सामञ्जस्य उनकी भाषा एवं वर्ण्यवस्तुओं के आधार पर २१वीं द्वात्रिंशिका से नहीं बैठ पाता है। २१वीं द्वात्रिंशिका में महावीर^{१५३} नाम का उल्लेख है, जबकि अन्य किसी द्वात्रिंशिका में ऐसा उल्लेख नहीं है, 'वीर' और 'वर्धमान' नाम अवश्य मिलते हैं। २१वीं द्वात्रिंशिका में दो विलक्षणताएँ और मिलती हैं, पहली— इसका परिमाण ३३ श्लोक का है, जो अन्य सभी द्वात्रिंशिकाओं से अधिक है एवं दूसरी, इस द्वात्रिंशिका के ३३वें पद्य में स्तुति महात्म्य का पाया जाना। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों (पाँचवी एवं इक्कीसवीं) द्वात्रिंशिकाएँ भिन्न-भिन्न सिद्धसेनों की कृतियाँ होनी चाहिए।^{१५४} पण्डित सुखलाल जी का भी यही मत है। उन्होंने अपने **सन्मति प्रकरण** की प्रस्तावना में लिखा है कि इनमें जो २१वीं महावीर द्वात्रिंशिका है उसकी भाषा, रचना, शैली और विषयवस्तु की दूसरी बत्तीसी के साथ तुलना करने पर ऐसा मालूम होता है कि वह बत्तीसी किसी जुदे ही सिद्धसेन की कृति है और चाहे जिसे कारण से दिवाकर (सिद्धसेन) की मानी जाने वाली कृतियों में शामिल कर ली गयी है।^{१५५}

स्तुतिपरक छः द्वात्रिंशिकाओं (प्रथम पाँच एवं ग्यारहवीं) के अतिरिक्त जो १५ द्वात्रिंशिकाएँ मिलती हैं, वे न तो स्तुतिविषयक हैं और न ही ऐसा लगता है कि शिवलिंग के सामने बैठकर एक ही समय में उनकी रचना की गई हो। यह तथ्य भी सभी द्वात्रिंशिकाओं के एक ही आचार्य की कृति मानने के विरुद्ध है।^{१५६}

इस सन्दर्भ में एक और तथ्यात्मक किन्तु विरोधपूर्ण कथन जो प्रबन्धों द्वारा किया गया है, वह यह है कि '**प्रभावकचरित**' एवं **प्रबन्धचिन्तामणि** ये दोनों प्रबन्ध सिद्धसेन द्वारा की गई स्तुति का प्रारम्भ जिस श्लोक से होना बतलाते हैं, वे एक दूसरे से भिन्न हैं यथा **प्रभावकचरित** के अनुसार स्तुति का प्रारम्भ—

प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जत्रयम् ।

समस्तैरपि नो नाथ वरतीर्थाधिपैस्तथा ॥^{१५७}

इस श्लोक से एवं प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार स्तुति का प्रारम्भ निम्न श्लोक से होता है —

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताभय प्रदम् ।
माङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥^{४८}

ध्यातव्य है कि उपलब्ध द्वात्रिंशिका में स्तुति का प्रारम्भ न तो इन दोनों श्लोकों से किया गया है, न ही ये दोनों श्लोक उपलब्ध द्वात्रिंशिका में मिलते हैं।^{४९} प्रभावकचरित में श्री वीरस्तुति के बाद जिन द्वात्रिंशिकाओं को अन्याःस्तुति^{५०} लिखा है, वे श्रीवीर से भिन्न अन्य तीर्थकरों की स्तुतियाँ जान पड़ती हैं, शायद यही कारण है कि इन स्तुतियों का समावेश स्तुतिपंचक में नहीं हो सका है।

उक्त दोनों प्रबन्धों के उत्तरकालीन विविधतीर्थकल्प एवं प्रबन्धकोश में स्तुति का प्रारम्भ निम्न श्लोक से हुआ है—

स्वयंभुवंभूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तं व्याहृतविश्वलोक मनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥^{५१}

यह श्लोक उपलब्ध द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका की प्रथम द्वात्रिंशिका का प्रथम श्लोक है।^{५२} परन्तु पूर्वरचित प्रबन्धों से इसका कोई समर्थन प्राप्त नहीं होता।

दूसरी बात यह कि इन ग्रन्थों में द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका को एकमात्र श्रीवीर से सम्बन्धित बताया गया है और उनके विषय 'देवं स्तोतुमुपचक्रमे'^{५३} कहकर स्तुति ही बतलाया गया है किन्तु स्तुति के अन्त में शिवलिंग का स्फोटन होने पर महावीर की प्रतिमा की जगह पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट होना कुछ असङ्गत सा प्रतीत होता है। यद्यपि ऐसा उल्लेख मिलता है,^{५४} फिर भी स्तुति किसी की हो, एवं प्रतिमा अन्य की प्रकट हो, अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस तरह १४ द्वात्रिंशिकाएँ जो स्तुतिपरक या तद्विषयक नहीं हैं, प्रबन्धवर्णित द्वात्रिंशिकाओं में परिगणित नहीं की जा सकतीं। पण्डित सुखलाल जी एवं वेचरदास जी ने सम्भवतः इस तथ्य को समझकर ही सन्मति प्रकरण की प्रस्तावना में लिखा है कि 'शुरुआत में दिवाकर के जीवनवृत्तान्त में स्तुत्यात्मक बत्तीसियों को ही स्थान देने की जरूरत मालूम हुई और इसके साथ में संस्कृत भाषा तथा पद्यसंख्या में समानता रखने वाली परन्तु स्तुत्यात्मक नहीं, ऐसी दूसरी बत्तीसियाँ इनके जीवन वृत्तान्त में स्तुत्यात्मक रूप में ही दाखिल हो गई और पीछे किसी ने इस हकीकत को देखा तथा खोजा ही नहीं कि कही जाने वाली बत्तीसी अथवा उपलब्ध इक्कीस बत्तीसियों में कितनी और

कौन स्तुतिरूप हैं और कौन-कौन स्तुति रूप नहीं हैं^{५५} परन्तु पण्डित जी का यह कथन कुछ अधिक ग्राह्य नहीं लगता।

इस सन्दर्भ में एक तथ्य जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशारनयचक्र पर न्यायागमनानुसारिणी नामक वृत्ति के लेखक सिंहसूरि गणिकामाश्रमण, जिनका समय ई०सन् सातवीं शताब्दी माना जाता है, ने अपने ग्रन्थ में सिद्धसेन दिवाकर की नाम सहित तीन द्वात्रिंशिकाओं (३/८, ४/२२ एवं २०/४)^{५६} को उद्धृत किया है; अतः स्तुतिपंचक में आने वाली इन दो द्वात्रिंशिकाओं के अतिरिक्त २०वीं द्वात्रिंशिका भी सिद्धसेन दिवाकर की ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका के सम्यक् अनुशीलन से लगता है कि प्रथम पांच द्वात्रिंशिकाएँ जो स्तुतिरूप हैं एवं जिनमें सिद्धसेन नाम का सूचन भी मिलता है, तथा ११वीं और २०वीं सन्मतिकार सिद्धसेन की कृतियाँ हैं; २१वीं द्वात्रिंशिका निश्चित रूप से किसी दूसरे सिद्धसेन की कृति है, ये सिद्धसेन कौन हो सकते हैं, यह प्रश्न विचारणीय है।

नाम की आंशिक समरूपता के आधार पर यह सिद्धसेन, सिद्धर्षि (ई०सन् ८७०-९२०) ही हैं, ऐसा कहा जा सकता है, या एक विकल्प यह भी हो सकता है, क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा ३२ पद्यों वाली न्यायावतार को २२वीं द्वात्रिंशिका के रूप में परिगणित करती है जिस पर सिद्धर्षि ने एक टीका भी लिखी है। सम्भव है सिद्धर्षि का ही नाम सिद्धसेन के रूप में २१वीं द्वात्रिंशिका पर चढ़ गया हो जो बाद की रचना होने पर भी द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका की में परिगणित हो गई हो, जैसा कि पण्डित सुखलालजी आदि विद्वान् मानते हैं कि सभी बत्तिसियाँ एक साथ ही रचित नहीं हैं, बल्कि बाद में काफी गोलमाल हुआ है।^{५७}

किन्तु २१वीं द्वात्रिंशिका के कर्ता यदि सिद्धर्षि को माना जाय, कि जिस सिद्धसेन का सूचन उसमें मिलता है वे सिद्धर्षि (१०वीं शती) ही हैं तो प्रभावकचरित का प्रमाण इसमें बाधक बनता है, जिसमें सिद्धसेन का वर्णन वृद्धवादिसूरिचरितम् (८) के अन्तर्गत एवं सिद्धर्षि के वर्णन के लिए एक अलग प्रबन्ध (१४वां प्रबन्ध) की योजना प्रबन्धकार ने की है। यदि सिद्धर्षि ही सिद्धसेन होते तो उन्हें दो अलग-अलग प्रबन्धों में न रखकर, एक ही प्रबन्ध में रखा गया होता एवं जहाँ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओं की प्रबन्धगत चर्चा है उनमें भी सिद्धर्षि ही सिद्धसेन हैं ऐसा उल्लेख किया गया होता, परन्तु ऐसा नहीं है।

मेरे मतानुसार २१वीं द्वात्रिंशिका के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर न होकर सिद्धसेन गणि होने चाहिए, जिन्होंने उमास्वाति प्रणीत **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** पर टीका लिखी है एवं जिनका समय प्रो० एच० आर० कापड़िया ने विक्रम की सातवीं शती (७वीं शताब्दी) निश्चित किया है।^{५८} सम्भव है सिद्धसेन गणि का ही नाम २१वीं द्वात्रिंशिका में चढ़ गया हो। अतः सन्मतिकार सिद्धसेन दिवाकर २१वीं द्वात्रिंशिका को छोड़कर प्रथम पाँच एवं ग्यारहवीं स्तुत्यात्मक द्वात्रिंशिकाओं या कुछ अन्य के कर्ता हैं, यह स्पष्ट है। इस सन्दर्भ में पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार का यह कथन अग्राह्य लगता है कि यदि २१वीं द्वात्रिंशिका को छोड़कर शेष २० द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेन की कृतियाँ हों तो सन्मति सूत्रकार सिद्धसेन उनमें से किसी भी द्वात्रिंशिका के कर्ता नहीं हैं।^{५९} क्योंकि प्रबन्धों (**विविधतीर्थकल्प**^{६०} एवं **प्रबन्धकोश**^{६१}) के आधार पर शिवलिंग के सम्मुख आसनासीन हो स्तुति करने वाले सिद्धसेन दिवाकर ही हैं, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। किन्तु २१वीं एवं अन्य कुछ द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन, जिनके नाम का सूचन २१वीं द्वात्रिंशिका में मिलता है सिद्धसेन दिवाकर न होकर सिद्धसेन गणि हैं जिनकी रचना बाद में हुए घालमेल के कारण दिवाकर की रचनाओं में किसी तरह समाविष्ट हो गई। मेरे विचार से २२वीं द्वात्रिंशिका के रूप में परिगणित किया जाने वाला स्वतन्त्रग्रन्थ **न्यायावतार** सिद्धर्षि की कृति है, क्योंकि प्राप्त प्रमाणों एवं साक्ष्यों के आधार पर **न्यायावतार** को धर्मकीर्ति के पहले या विक्रम की सातवीं शताब्दी के पहले किसी भी स्थिति में नहीं रख सकते, (एवं सिद्धसेन दिवाकर पांचवीं शताब्दी के हैं) इसकी विस्तृत चर्चा हमने अगले पृष्ठों में **न्यायावतार** के सन्दर्भ में की है। बत्तीस पद्यों वाले **न्यायावतार** के कर्ता सिद्धर्षि के सिद्ध हो जाने पर उनके समतुल्य महावीर द्वात्रिंशिका (२१वीं) आदि के कर्ता भी वहीं हैं, ऐसा मान लेने में कोई असंगति नहीं रह जाती।

न्यायावतार

न्यायावतार जैन दार्शनिक साहित्य में जैन-न्याय एवं प्रमाण-मीमांसा का निरूपण करने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। रचनाकार ने ग्रन्थ में जैन दर्शन सम्मत प्रमाण-मीमांसा के मौलिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन किया है। इसे जैन प्रमाण-शास्त्र का एक आकर ग्रन्थ कहा जा सकता है।

ग्रन्थपरिमाण एवं भाषा

न्यायावतार में अनुष्टुप् छन्द में रचित कुल ३२ कारिकाएँ हैं। भाषा संस्कृत एवं शैली बोधगम्य है। बत्तीस कारिकाओं की रचना होने के कारण पण्डित

सुखलालजी^{६२} प्रभृत विद्वानों ने इसे सिद्धसेन की उपलब्ध बाईस **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओं** में, बाईसवीं द्वात्रिंशिका के रूप में परिगणित किया है। इसके लिए उन्होंने **प्रभावकचरित^{६३}** में आये 'न्यायावतार सूत्रं च श्री वीर स्तुतिमपथ्य' इस कारिका को आधार बनाया है। प्रबन्ध में **प्रभावकचरित** ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसके अनुसार **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओं** में **न्यायावतार** भी एक द्वात्रिंशिका है ऐसा संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त न तो किसी प्राचीन प्रबन्ध में और न ही सिद्धसेन की किसी अन्य कृति में इसका उल्लेख है। ऐसी स्थिति में, जैसा कि अनेक विद्वानों ने माना है, **न्यायावतार** को स्वतन्त्र रचना मानना ही तर्कसङ्गत लगता है।

न्यायावतार की उपलब्ध प्रतियों में श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित (अंग्रेजी अनुवाद) कलकत्ता १९/९, दि सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा १९१५ से प्रकाशित; पी०एल०वैद्या द्वारा सम्पादित, बाम्बे १९२८; हेमचन्द्रसभा द्वारा प्रकाशित सिद्धर्षि-टीका युक्त, पाटन वि०सं० १९१७; पण्डित सुखलाल जी द्वारा सम्पादित गुजराती प्रस्तावना, अहमदाबाद सं० १९८३; श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि०सं० २०३२ एवं **न्यायावतारवार्तिकवृत्ति**, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि०सं० २००५ आदि मुख्य हैं। मूलग्रन्थ जैनधर्मप्रसारक सभा ग्रन्थमाला १३, भावनगर से १९०९ में प्रकाशित हुआ है।

वृत्ति और टीकाएँ

न्यायावतार पर जो वृत्ति और टीकाएँ लिखी गई हैं उनमें (१) हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति, ग्रन्थाग्र २०७३, **बृहत्तिपणिका**-नं० ३६५ अनुपलब्ध, जैन साहित्यिक संशोधक पूना, १९२५^{६४} (अनुपलब्ध), (२) सिद्धर्षिगणि (९वीं शती) कृत '**सिद्धव्याख्यनिका**' (**बृहत्तिपणिका**, ३६५) (३) देवभद्रसूरिकृत टिप्पण ग्रन्थाग्र २९५३ पद्य^{६५} (४) राजशेखरसूरिकृत **वृत्तिटिप्पण**, (५) शान्तिशूरि (शान्त्याचार्य-१२वीं शती) कृत **न्यायावतारवार्तिक वृत्ति**, पाटन- कलकत्ता (६) श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आदि वैद्याकरण श्री बुद्धिसागर के सहोदर खरतर गच्छीय आचार्य जिनेश्वरसूरि (११वीं शती) कृत **न्यायावतार** के प्रथमसूत्र-'प्रमाणं स्वपरभासि' पर **प्रमालक्ष्म** या **प्रमाण-लक्षण टीका** (ग्रन्थाग्र-४०५) एवं (७) ५५ संस्कृत श्लोकों की एक वार्तिक (लेखक-अज्ञेय) जिसे **जैन वार्तिक** या **प्रमाणवार्तिक^{६६}** भी कहा जाता है, मुख्य हैं।

विषयवस्तु

न्यायावतार की विषयवस्तु प्रमाण मीमांसा है। रचनाकार ने प्रथमकारिका 'प्रमाणं स्वपरभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्' में प्रमाण की परिभाषा देते हुए

स्वपरप्रकाशक बाधारहित ज्ञान को ही प्रमाण की संज्ञा दी है एवं प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से इसके दो भेद किए हैं। दूसरी से चौथी कारिका में— प्रत्यक्ष व परोक्ष के लक्षण, ५वीं में अनुमान की परिभाषा एवं अभ्रान्तपद से उसका निर्वचन, छठी-सातवीं में प्रत्यक्ष भ्रान्त है—योगाचारवादी मत का खण्डन, ८ से ९वीं कारिका में शब्द प्रमाण का लक्षण, १० से १३वीं में परार्थानुमान एवं पारमार्थिक प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण, १४ से १६वीं में पक्ष का लक्षण, १७वीं कारिका में द्विविध हेतु, १८ से २०वीं कारिका में साधर्म्य-वैधर्म्य का लक्षण, २१वीं में वैधर्म्यदृष्टान्त दोष, २६वीं कारिका में दूषण एवं दूषणाभास का लक्षण, २७वीं में पारमार्थिक प्रत्यक्ष का निरूपण, २८वीं में प्रमाणफल, २९वीं में नयवाद, ३०वीं में स्याद्वाद, ३१वीं कारिका में प्रमाता का निरूपण करते हुए अन्तिम ३२वीं कारिका में प्रमाणादि व्यवस्था के अनादि तत्त्व का ख्यापन किया गया है।

रचनाकार

सामान्यतया सिद्धसेन दिवाकर को **न्यायावतार** का कर्ता माना जाता है। किन्तु **न्यायावतार** की रचनाशैली एवं विषयवस्तु के आधार पर अनेक विद्वानों ने इसे सिद्धसेन की कृति मानने में आपत्ति जाहिर की है। **न्यायावतार** के कर्ता के सम्बन्ध में हमें मुख्य रूप से तीन अवधारणाएँ मिलती हैं। पहली अवधारणा को मानने वाले वे विद्वान् हैं जो परम्परा के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर को ही **न्यायावतार** का कर्ता मानते हैं। इनमें पं० सुखलाल संघवी,^{६७} पं० बेचरदास दोशी, पं० दलसुख मालवणिया,^{६८} डॉ० हीरालाल जैन,^{६९} पं० नाथूराम प्रेमी,^{७०} पी०एन०दवे आदि हैं। दूसरी अवधारणा के प्रतिनिधि श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण,^{७१} हर्मन जैकोबी,^{७२} पी०एल०वैद्य,^{७३} प्रो०ए०एन०उपाध्ये^{७४} आदि हैं जो सिद्धसेन दिवाकर को **न्यायावतार** का कर्ता तो मानते हैं किन्तु उन्हें छठी या सातवीं शताब्दी में रखते हैं। तीसरी अवधारणा को मानने वाले पं० जुगल किशोर मुख्तार,^{७५} पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री,^{७६} पं० दरबारी लाल कोठिया एवं डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री^{७७} प्रभृत विद्वान् हैं, जो **न्यायावतार** को किसी जुदा परवर्ती सिद्धसेन की कृति मानते हैं। सिद्धसेन की समय सीमा पाँचवीं शताब्दी से आगे नहीं ले जाई जा सकती इसे हम इसी लेख के प्रथम भाग अर्थात् उनके जीवन-वृत्तान्त के सन्दर्भ में सिद्ध कर चुके हैं। यहाँ हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि **न्यायावतार** सिद्धसेन दिवाकर की कृति है या नहीं।

न्यायावतार, सिद्धसेन दिवाकर की कृति है, इस विषय में प्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य शान्तिसूरि^{७८} (शांत्याचार्य ११वीं शती) हैं जिन्होंने **न्यायावतारवार्तिक** **वृत्ति** लिखी है। इसके पूर्ववर्ती रचनाओं यथा—आचार्य समन्तभद्रकृति (छठी

शताब्दी) आप्तमीमांसा^{१९} रत्नकरण्डश्रवाकाचार^{२०} एवं हरिभद्रकृत (८वीं शती) अष्टकप्रकरण^{२१} और षड्दर्शनसमुच्चय^{२२} आदि ग्रन्थों में भी न्यायावतार की कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। प्रबन्धों में प्रभावकचरित (१४वीं शती) ही एकमात्र प्रबन्ध है जिसमें न्यायावतार को द्वात्रिंशिकाओं में परिगणित कर उसे सिद्धसेन दिवाकर की रचना बताई गई है। शेष चार प्रबन्धों में ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। न्यायावतार की उपलब्ध प्रतियों के अनुशीलन से ऐसा कोई भी उल्लेख उनके नाम आदि का नहीं मिलता जिससे यह प्रतिफलित हो सके कि यह सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित है। पण्डित सुखलाल जी^{२३} प्रभृत विद्वानों ने प्रभावकचरित के उल्लेख को ही आधार मानकर न्यायावतार को २२वीं द्वात्रिंशिका मानते हुए सिद्धसेन की कृति माना है।

पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार ने प्रभावकचरित के उल्लेख के आधार पर न्यायावतार को सिद्धसेन की कृति मानने के मत का खण्डन किया है।^{२४} अपने मत के समर्थन में उन्होंने कहा है कि न्यायावतार, सन्मतिकार सिद्धसेन की कृति नहीं हो सकती क्योंकि 'यह सन्मतिमूत्र से भी एक शताब्दी बाद का बना हुआ है, और इस पर समन्तभद्र स्वामी के उत्तरकालीन पात्रस्वामी (९वीं शती) जैसे जैनाचार्यों का ही नहीं किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्यों का भी स्पष्ट प्रभाव है।'^{२५} इस सन्दर्भ में पण्डित मुख्तार जी ने डॉ०हर्मन जैकोबी के मतों का भी उल्लेख किया है।

प्रो०हर्मन जैकोबी^{२६} और उनके मत के उपजीवी प्रो०पी०एल०वेंद्य^{२७} ने न्यायावतार में आने वाले 'अभ्रान्त' एवं 'भ्रान्त' पदों, जो क्रमशः पांचवें एवं छठे श्लोक में आते हैं, को आधार बनाकर सिद्धसेन दिवाकर को धर्मकीर्ति के बाद का रचनाकार सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनका ऐसा मानना है कि प्रमाण की व्याख्या में 'अभ्रान्त' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति हैं। धर्मकीर्ति ने प्रमाणसमुच्चय के प्रथम परिच्छेद में आने वाली दिङ्नाग की प्रत्यक्ष की व्याख्या 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'^{२८} को 'अभ्रान्त' पद से अधिक शुद्ध^{२९} किया है। न्यायावतार के चौथे पद्य में प्रत्यक्ष का लक्षण अकलङ्कदेव की तरह 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्' न देकर जो 'अपरोक्षतयार्थस्व ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम्'^{३०} दिया है एवं अगले पद्य में अनुमान का लक्षण देते हुए 'तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात्समक्षवत्'^{३१} कहते हुये अनुमान की प्रत्यक्ष भांति 'अभ्रान्त' है, ऐसा जो रचनाकार का कथन है, उससे ध्वनित होता है कि सिद्धसेन के सामने उनके लक्ष्य में धर्मकीर्ति का उक्त लक्षण भी स्थित था क्योंकि उन्होंने अपने लक्षण में ग्राहक पद के प्रयोग के द्वारा जहाँ प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक ज्ञान बतलाकर धर्मकीर्ति के

‘कल्पनापोढ’ विशेषण का खण्डन किया है वहीं उनके ‘अभ्रान्त’ विशेषण को प्रकारान्तर से स्वीकार भी किया है।

इसी प्रकार धर्मकीर्ति ने अपने **न्यायबिन्दु** में अनुमान का लक्षण बताते हुए ‘त्रिरूपात्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानं’^{१२} कहा है। इसमें ‘त्रिरूपात्’ पद के द्वारा लिंग को त्रिरूपात्मक बताकर अनुमान के साधारण लक्षण को एक विशेषरूप दिया गया है। यहाँ अनुमान को ‘भ्रान्त’ या ‘अभ्रान्त’ ऐसा कोई लक्षण नहीं दिया गया। धर्मोत्तर ने **‘न्यायबिन्दु’** की टीका में प्रत्यक्ष लक्षण की व्याख्या एवं उसमें प्रयुक्त हुए अभ्रान्त विशेषण की उपयोगिता बतलाते हुए ‘भ्रान्तं ह्यनुमानं’^{१३} इस वाक्य के द्वारा अनुमान को भ्रान्त प्रतिपादित किया है। पण्डित जुगलकिशोर जी के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धसेन ने अनुमान का लक्षण करते हुए सबको लक्ष्य में रखकर ‘साध्याविनाभुनो लिङ्गात्साध्यनिश्चयकं स्मृतम् अनुमानं’^{१४} कहा है और इसमें लिंग का साध्याविनाभावी ऐसा एक रूप देखकर धर्मकीर्ति के त्रिरूप का पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व तथा विपक्षासत्व रूप का निरसन किया है। साथ ही ‘तदभ्रान्तं समक्षवत्’ इस वाक्य की योजना द्वारा अनुमान को प्रत्यक्ष की तरह अभ्रान्त कहकर बौद्धों की उसे भ्रान्त प्रतिपादन करने वाली उक्त मान्यता का खण्डन भी किया है।^{१५} इसी तरह ‘न प्रत्यक्षमपिभ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात्’ इत्यादि छठे पद्य में उन दूसरे बौद्धों की मान्यता का खण्डन किया है जो प्रत्यक्ष को अभ्रान्त नहीं मानते। यहाँ लिंग के एकरूप का और फलतः अनुमान के उक्त लक्षण का आभारी पात्रस्वामी का वह हेतुलक्षण है जिसे **न्यायावतार** की २२वीं कारिका में ‘अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षण- मीरितम्’ इस वाक्य के द्वारा उद्धृत भी किया गया है और जिसके आधार पर पात्रस्वामी ने बौद्धों के त्रिलक्षण हेतु का कदर्थन किया था तथा **‘त्रिलक्षणकदर्शन’** नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रच डाला था।^{१६}

धर्मकीर्ति का समय ई०सन् ६३५-६५० अर्थात् विक्रम की सातवीं शताब्दी का चतुर्थचरण, धर्मोत्तर का समय ई०सन् ७२५-७५० अर्थात् विक्रम की ८वीं शताब्दी और पात्रस्वामी का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी माना जाता है। अतः यदि **न्यायावतार** के कर्ता सिद्धसेन हैं तो उनका समय इन आचार्यों के बाद अर्थात् विक्रम की ८वीं शती होना चाहिए। इसी आधार पर प्रो०हर्मन जैकोबी^{१७} एवं पी०एल०वैद्य^{१८} तथा पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार^{१९} ने सिद्धसेन को धर्मकीर्ति के पश्चात् अर्थात् सातवीं शताब्दी में रखा है।

पण्डित सुखलाल जी संघवी ने अपने ग्रन्थ **सन्मतिप्रकरण** की प्रस्तावना में सिद्धसेन दिवाकर को धर्मकीर्ति के पश्चात् रखने के मत को अयुक्तियुक्त बतलाया

है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने प्रो०टूची (Tucci) के एक निबन्ध का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'प्रो०टूची ने जर्नल ऑफ रायल एसियाटिक सोसायटी के १९२९ के जुलाई अंक में दिङ्नाग पहले के बौद्ध न्याय पर एक विस्तृत निबन्ध प्रकट किया है। उसमें बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवादों के आधार पर दिङ्नाग के पहले बौद्धों में न्यायदर्शन कितना विस्तृत और विकसित था, यह बताने का समर्थ प्रयत्न किया है। उन्होंने योगाचारभूमिशाला एवं प्रकरणार्यवाचानामक ग्रन्थों के वर्णन में प्रत्यक्ष की व्याख्या इस प्रकार दी है—

Pratyakṣa according to A [i.e. Yogācār-Bhūmi Śāstra and Prakarnāryavācā] must be 'aparokṣa', unmixed with imagination, nirvikalpa and devoted of error abhrānta or avyabhicāri'.¹⁰⁰

पण्डित सुखलाल जी के अनुसार इन ग्रन्थों में प्रत्यक्ष की जो व्याख्या दी है उसके अनुसार प्रत्यक्ष को अपरोक्ष, कल्पनापोढ, निर्विकल्प और अभ्रान्त अथवा अव्यभिचारी होना चाहिए। साथ ही 'अभ्रान्त' तथा 'अव्यभिचारी' शब्दों पर टिप्पणी देते हुए उनका कथन है कि ये दोनों पर्यार्यवाची शब्द हैं और चीनी तथा तिब्बती शब्दों का इस तरह दोनों रूप में अनुवाद हो सकता है, एवं फिर स्वयं 'अभ्रान्त' शब्द को ही स्वीकार करते हुए यह अनुमान लगाया है कि धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष की व्याख्या में अभ्रान्त शब्द की जो वृद्धि की है वह उनके द्वारा की गई कोई नई वृद्धि नहीं अपितु सौत्रान्तिकों की पुरानी व्याख्या को स्वीकार करके उन्होंने दिङ्नाग की व्याख्या में इस प्रकार से सुधार किया है। योगाचार्यभूमिशाला असङ्ग की कृति है। असङ्ग का समय ईसा की चौथी शताब्दी का मध्यकाल है। इसप्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण में अभ्रान्त शब्द का प्रयोग तथा अभ्रान्तता का विचार विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी के पहले भी भली-भांति ज्ञात था। अतः सिद्धसेन दिवाकर को मैत्रेय के बाद किन्तु धर्मकीर्ति से पहले मानने में कोई अन्तराय नहीं आता।¹⁰¹

पण्डित श्री दलसुखभाई मालवणिया ने अपने न्यायावतारवार्तिकवृत्ति¹⁰² के संस्करण में 'न्यायावतार की तुलना' शीर्षक प्रथम परिशिष्ट में न्यायावतार की अनेक बौद्ध ग्रन्थों के साथ तुलना कर पण्डित सुखलाल जी के ही मत का समर्थन किया है। पं० मालवणिया का कथन है कि न्यायावतार के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस कृति के कर्ता का दिङ्नाग के ग्रन्थों से परिचय अवश्य था। अपने मत के समर्थन में पं० मालवणिया¹⁰³ ने कुछ बिन्दुओं पर ध्यान आकर्षित किया है।

१. दिङ्नाग ने परार्थानुमान को हेतु वचन एवं पक्षादि वचन से समृद्ध किया है और ये दोनों ही लक्षण न्यायावतार की तेरहवीं कारिका में लिये गये हैं—

साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत् प्रतिपादकम् ।

परार्थमनुमानं तत् पक्षादि वचनात्मकम् ॥ —न्यायावतार, १३।

२. दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की कारिका १.२३ न्यायावतार की २८वीं कारिका में अन्तर्भूत है।^{१०४}

३. न्यायावतार की १०वीं एवं २९वीं कारिका का प्रथम पाद कुछ परिवर्तनों के साथ दिङ्नाग से ही गृहीत हैं।^{१०५}

*अतः न्यायावतार दिङ्नाग (ई० सन् ४८०-५४०) के बाद की रचना होने से सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं हो सकती।^{१०६}

ज्ञातव्य है कि जैनदर्शन के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् पद्मभूषण पं०दलसुखभाई मालवणिया ने अपने उक्त मत में वर्तमान साक्ष्यों के आधार पर परिवर्तन कर लिया है एवं न्यायावतार के सिद्धसेन की कृति मानने से अपने पूर्वमत में स्वतः संसोधन करते हुए उसे सिद्धर्षि की रचना माना है।^{१०७}

उपर्युक्त तर्कों की समीक्षा करने पर न्यायावतार के कर्ता के सम्बन्ध में कुछ तथ्य उभरकर सामने आते हैं जो इस प्रकार हैं —

प्रथम तो यह कि धर्मकीर्ति के पहले बौद्ध-न्याय में 'अभ्रान्त' पद नहीं था और प्रत्यक्ष प्रमाण के सन्दर्भ में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग उनकी नयी योजना है, यह कथमपि तर्कसंगत नहीं है। प्रो०टूची के कथन के आधार पर हमने धर्मकीर्ति पूर्व बौद्ध-न्याय का अनुशीलन किया और पाया कि 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग धर्मकीर्ति के पहले असंग और उनके गुरु मैत्रेय की कृतियों में अनेकशः हुआ है। अपनी कृति 'अभिधर्मसमुच्चय' के सांकथ्य परिच्छेद में प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए असंग ने लिखा है—

प्रत्यक्षं स्वसत्रकाशाभ्रान्तोऽर्थः ।^{१०८}

अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसत्रकाशा एवं अभ्रान्त अर्थ है।

असंग बसुबन्धु के बड़े भाई थे जिनका समय ई० सन् ३१६-३९६ है। वसुबन्धु जब पैदा हुए थे तो असंग को बौद्धधर्म में दीक्षित हुए एक वर्ष हो चुके थे।^{१०९} अतः असंग का समय ३०१ ई० सन् के आस-पास निश्चित किया जा सकता है। अब यदि असंग प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग करते हैं, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति के पहले 'अभ्रान्त' पद बौद्ध न्याय में ज्ञात नहीं था और धर्मकीर्ति की यह अपनी नयी योजना है। यदि असंग ने 'अभ्रान्त'

पद का प्रयोग किया है और उसी को आधार बनाकर सिद्धसेन दिवाकर और धर्मकीर्ति ने अपने-अपने अभीष्ट मतों का प्रतिपादन किया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अभिधर्म समुच्चय में असंग ने प्रमाण सन्दर्भ के अतिरिक्त ज्ञेय क्या है? इस सन्दर्भ में भी 'अभ्रान्त' पद का अनेकशः प्रयोग किया है, यथा—

ज्ञेय कतमत् । संक्षेपेण षड्विधम् । भ्रान्तिः भ्रान्ताश्रयः अभ्रान्ताश्रयः
भ्रान्त्यभ्रान्तिः अभ्रान्तिः निर्ष्वदश्च । — **अभिधर्मसमुच्चय**, पृष्ठ १०१।

अतः यह मानने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि 'अभ्रान्त' पद की योजना धर्मकीर्ति की अपनी नयी योजना है।

किन्तु इतना मान लेने से ही सिद्धसेन दिवाकर को **न्यायावतार** का कर्ता मान लेना पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि **न्यायावतार** में आने वाले अनुमान प्रमाण की परिभाषा पर दिगम्बर जैन न्यायविद् पात्रकेसरी अपर नाम पात्रस्वामी (सातवीं शती का उत्तरार्द्ध), जो समन्तभद्र के 'देवागम' से प्रभावित होकर जैनधर्म में दीक्षित हुए थे, का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अवधेय है कि हेतु लक्षण के सम्बन्ध में **न्यायावतार** की २२वीं कारिका 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' का पात्रकेसरी के 'त्रिलक्षणकदर्थन' की कारिका से अंशतः शाब्दिक साम्य है, और जिसे शान्तरक्षित ने अपने **तत्त्वसंग्रह** में उद्धृत किया है।

इसी प्रकार **न्यायावतार** की आठवीं कारिका 'दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्' में आगम प्रमाण का लक्षण आ जाने पर भी नवीं कारिका में समन्तभद्र सम्मत (**रत्नकरण्ड श्रावकाचार**) 'आप्तोपज्ञमनुलङ्घयद्दृष्टेष्टविरोधकम्' शास्त्र का लक्षण उपर्युक्त मत का ही समर्थन करता है। **न्यायावतार** की अन्य कारिकाओं में समन्तभद्र की अन्य कारिकाओं का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। तुलना करें —

उपेक्षा फलमाऽऽद्यस्य शेषस्याऽऽदान-हान-धीः।

पूर्वा (वै) वाऽज्ञान-नाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे।। १०२।। (देवागम)

प्रमाणस्यफलं साक्षाद्ज्ञान विनिवर्तनम् ।

केवलस्य सुखोपेक्षो शेषस्याऽऽदान-हान धीः ।। - न्यायावतार, २८।

अतः **न्यायावतार** धर्मकीर्ति एवं पात्र स्वामी के बाद की रचना होने से सन्मतिकार सिद्धसेन की कृति नहीं हो सकती जिनका समय आमतौर पर विक्रम की पांचवी शताब्दी निश्चित किया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी बिन्दु हैं जो **न्यायावतार** को सिद्धसेनकृत मानने में बाधा उत्पन्न करते हैं—

मल्लवादि क्षमाश्रमण-के 'द्वादशारनयचक्र' पर 'न्यायागमनानुसारिणी' नामक वृत्ति के लेखक सिंहसूरि गणि क्षमाश्रमण जिनका समय ई०सन् सातवीं शताब्दी माना जाता है, ने अपनी वृत्ति में सन्मतितर्क की १३ गाथाओं का उद्धरण भिन्न-भिन्न स्थलों पर दिया है।^{११०} यदि न्यायावतार सिद्धसेन की कृति होती तो नय की व्याख्या करने वाले द्वादशारनयचक्र की अमुक वृत्ति में रचनाकार ने न्यायावतार की कारिकाओं को भी अवश्य ही उद्धृत किया होता, परन्तु ऐसा नहीं है जो साफ़ तौर पर जाहिर करता है कि सातवीं शताब्दी तक न्यायावतार की रचना हो ही नहीं पाई थी। अतः न्यायावतार सातवीं शताब्दी के बाद किसी आचार्य की कृति होनी चाहिए।

इसी प्रकार जिनभद्रगणि (५८८-५९४ ई०) ने अपने विशेषावाश्यकभाष्य में तथा गन्धहस्ती सिद्धसेन ने अपने तत्त्वार्थाधिगम की वृत्ति में सन्मति से गाथाएँ ली हैं लेकिन इनकी रचनाओं में न्यायावतार से कुछ भी उद्धृत नहीं है जो उपर्युक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि करता है।

इसके अतिरिक्त यदि न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकर की कृति होती तो न्यायावतार पर वृत्ति लिखने वाले सिद्धर्षि ने अपनी रचना में कहीं न कहीं मूलकार का उल्लेख अवश्य किया होता। जैसा कि प्र० ए० ए० ढाकी ने^{१११} अपने लेख "The Date and authorship of Nyāyāvātāra" में स्पष्ट किया है सिद्धर्षि के अतिरिक्त न्यायावतार पर वृत्ति लिखने वाले अन्य वृत्तिकार जिनेश्वर सूरि एवं शान्ति सूरि में से जिनेश्वर सूरि अपने वृत्ति के प्रारम्भ में न्यायावतार को आद्य सूरि रचित बताते हैं एवं अन्त में पूर्वाचार्य विरचित। स्पष्ट है कि आचार्य को रचनाकार के सम्बन्ध में पता नहीं था। दूसरे वार्तिककार शान्ति सूरि रचनाकार के सन्दर्भ में 'सिद्धसेनार्क सूत्रितम्' एवं अन्यत्र उसी ग्रन्थ में 'सिद्धसेनस्य' या 'सूत्रकर्तृः' लिखते हैं। यद्यपि शान्ति सूरि ने यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है कि ये सिद्धसेन 'दिवाकर' पदवी वाले सिद्धसेन ही हैं।

अब प्रश्न उठता है; यदि यह सिद्धसेन की कृति नहीं है तो फिर किसकी कृति है? न्यायावतार के विषय में अनेक विद्वानों द्वारा दिए गए मन्तव्यों, उसकी रचनाशैली एवं अनेक आचार्यों के पौर्वापर्य की समीक्षा करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि न्यायावतार सिद्धव्याख्याता आचार्य सिद्धर्षि (विक्रम की १०वीं शताब्दी) की कृति है जो 'उपमितिभवप्रपञ्च' (वि०सं०९६२) चन्द्रकेवली चरित्र के कर्ता एवं धर्मदासकृत उपदेशमाला के विवरणकार हैं, एवं जिन्होंने न्यायावतार वृत्ति^{११२} में सिद्धसेन द्वारा 'कल्पनापोढग्रान्तम्' का 'ग्राहक' पद के द्वारा किए गये निरसन को बौद्धों (धर्मकीर्ति) के उक्त लक्षण का निरसन होना बतलाया है।

न्यायावतार पर मिलने वाली सिद्धर्षि की यह टीका मेरे विचार से सिद्धर्षि की ही स्वोपज्ञवृत्ति होनी चाहिए, जिसे भूल से सिद्धसेनकृत **न्यायावतार** पर उनकी वृत्ति समझी जाती रही है। सिद्धसेन एवं सिद्धर्षि के नाम की समरूपता (अर्द्धांश) के कारण सम्भव है बाद के विद्वानों ने **न्यायावतार** को सिद्धसेन की रचनाओं में परिगणित कर लिया हो।

जैसा कि मैं उल्लेख कर चुका हूँ यदि आचार्य सिद्धर्षि, सिद्धसेनकृत **न्यायावतार** पर वृत्ति लिखे होते तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रचलन के अनुसार उसके मूलकर्ता सिद्धसेन का नाम अवश्य दिए होते। परन्तु सिद्धर्षि की **न्यायावतार** वृत्ति में ऐसा कोई सूचन नहीं मिलता। रही बात सिद्धर्षि की अपने ही ग्रन्थ पर वृत्ति लिखने की, तो यह परम्परा रही है एवं अपने ही ग्रन्थ पर वृत्ति लिखते समय कर्ता के रूप में अपना नाम दिया जाय, यह आवश्यक नहीं है। अतः अमुक वृत्ति आचार्य सिद्धर्षि की ही स्वोपज्ञवृत्ति है, ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

न्यायावतार को सिद्धर्षिकृत मान लेने पर कुछ बाधाएँ सामने आती हैं जिनका परिहार हम उनके उल्लेख सहित करना चाहेंगे—

यदि **न्यायावतार** सिद्धर्षि की रचना मान ली जाय तो छठी शताब्दी के समन्तभद्रकृत रचनाओं में मिलने वाले **न्यायावतार** के श्लोकों की उपपत्ति कैसे हो पायेगी?

जहाँ तक **रत्नकरण्डश्रावकाचार** की बात है, प्रो० हीरालाल जैन^{११३} ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि यह समन्तभद्र की रचना न होकर योगीन्द्रदेव (१३वीं शती)^{११४} की रचना है। इसलिए यदि १३वीं शताब्दी के योगीन्द्र देव की रचना में १०वीं शताब्दी के सिद्धर्षिकृत **न्यायावतार** का कोई श्लोक मिलता है तो इसमें आश्चर्य या आपत्ति की कोई बात नहीं है। रही बात **आप्तमीमांसा** में पाये जाने वाली कारिका के साथ **न्यायावतार** के उक्त श्लोक के साम्य की तो सम्भव है समन्तभद्र की **आप्तमीमांसा** की उक्त कारिका को सिद्धर्षि ने अपने **न्यायावतार** में कुछ परिवर्तनों के साथ ले लिया हो। अतः इसमें भी कोई बाधा नहीं है।

(२) **न्यायावतार** का दूसरा^{११५} एवं चौथा^{११६} पूरा का पूरा श्लोक याकिनीसूनु हरिभद्र (ई०सन् ७४०-७८५) के क्रमशः '**अष्टकप्रकरण**'^{११७} एवं

‘षडदर्शनसमुच्चय’^{११८} में पाया जाता है। अष्टकप्रकरण में हरिभद्र, न्यायावतार के दूसरे श्लोक को उद्धृत करते हुए उसे ‘महामति’^{११९} के द्वारा कहा गया बतलाते हैं अर्थात् प्रकारान्तर से उन्होंने उस श्लोक के कर्ता के रूप में महामति का नामोल्लेख किया है। अब प्रश्न उठता है कि ये महामति कौन हैं? वस्तुतः महामति पद एक विशेषण है जिसे हरिभद्र ने सिद्धसेन दिवाकर, पूज्यपाद एवं समन्तभद्र के लिए प्रयुक्त किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ‘महामति’ शब्द उन्होंने सिद्धसेन दिवाकर के लिये प्रयुक्त किया है एवं उद्धृत श्लोक जिसे उन्होंने महामति या सिद्धसेनकृत बतलाया है, अधिक सम्भावना है वह श्लोक सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिकाओं में से लुप्त ‘प्रमाणद्वात्रिंशिका’ का हो, जिससे हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ अष्टकप्रकरण में लिया हो। क्योंकि प्रमाणद्वात्रिंशिका थी, इसका उल्लेख तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति^{१२०} में स्पष्टरूपेण मिलता है, यथा—

अभिनिमादृशां भाज्यमभ्यात्मं तु स्वयंदृशाम् ।

एकं प्रमाणमर्थैक्यादैक्यं तल्लक्षणैक्यतः ॥ प्रमाणद्वात्रिंशिकायाम् ।

इसी प्रकार षडदर्शनसमुच्चय में उद्धृत न्यायावतार का चौथा श्लोक भी सिद्धसेन की विलुप्त ‘प्रमाणद्वात्रिंशिका’ का ही प्रतीत होता है, जिसे ८वीं शताब्दी के हरिभद्र ने एवं १०वीं के सिद्धर्षि ने अपनी रचनाओं में ले लिया। अतः इस आधार पर कि चूँकि न्यायावतार के कुछ श्लोक हरिभद्र के उक्त ग्रन्थों में पाये जाते हैं इसलिए न्यायावतार हरिभद्र के पूर्व की रचना है, इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता और न ही सिद्धर्षि के न्यायावतार का कर्ता होने में कोई बाधा रह जाती है।

(३) न्यायावतार को सिद्धर्षिकृत मानने में एक प्रमुख व्यवधान न्यायावतार पर की गई हरिभद्रीय वृत्ति के कारण आता है। राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्धकोश^{१२१} के हरिभद्रसूरि प्रबन्ध में न्यायावतार पर हरिभद्र द्वारा वृत्ति लिखे जाने का उल्लेख किया है, और इसे आधार पर यह कहा जाता है कि ८वीं शताब्दी के हरिभद्र ने जिस ग्रन्थ पर वृत्ति लिखी हो, वह १०वीं शताब्दी की रचना कैसे हो सकती है?

परन्तु यह प्रश्न तभी उठता है जब हम न्यायावतार के वृत्तिकार हरिभद्र को प्रथम हरिभद्र या याकिनीसूनु विशेषण वाला हरिभद्र मान लें। अवंधेय है कि अन्य आचार्यों की भांति हरिभद्र भी एक से अधिक अर्थात् सात हुए हैं।^{१२२} बौद्ध आचार्य दिङ्नाग की कृति ‘न्याय-प्रवेश’ पर श्री हरिभद्र ने एक वृत्ति लिखी है, जो उपलब्ध है— जो न्यायप्रवेशवृत्ति^{१२३} के नाम से जानी जाती है, किन्तु ये हरिभद्र याकिनीसूनु हरिभद्र (प्रथम हरिभद्र) न होकर हरिभद्र द्वितीय हैं। पण्डित सतीशचन्द्रविद्याभूषण^{१२४}

ने अपनी पुस्तक History of Indian Logic में न्याय-प्रवेश वृत्ति के वृत्तिकार हरिभद्र को हरिभद्र द्वितीय बतलाते हुए उनका समय ईस्वी सन् ११२० अर्थात् वि०सं० ११७७ निश्चित किया है। इस 'न्याय-प्रवेश वृत्ति' पर 'न्याय-प्रवेशवृत्ति-पञ्जिका' नामक वृत्ति लिखने वाले पार्श्वदेवगणि ने अपने समय का सूचन अपनी वृत्ति में दिया है जो इसप्रकार है—

ग्रहरसरुद्रैर्युक्ते विक्रमसंवत्सरेऽनुराधायाम् ।

कृष्णायां च नवम्यां फाल्गुन मासस्थ निष्पन्ना ॥^{१२५}

पण्डित रतीशचन्द्र विद्याभूषण ने अमुक श्लोक के प्रथम पंक्ति के आधार पर पार्श्वदेवगणि का समय वि०सं० ११८९ फलित किया है। महामहिम पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्या ने भी इसका समर्थन किया है।^{१२६} इस आधार पर पण्डित विद्याभूषण ने हरिभद्र द्वितीय का समय वि०सं० ११७७ या विक्रम की १२वीं शती निर्धारित किया है। मुझे ऐसा लगता है कि न्यायावतार पर जिस हरिभद्र के वृत्ति लिखने का उल्लेख है, वह यही हरिभद्र द्वितीय हैं। क्योंकि न्याय-प्रवेश एवं न्यायावतार ये दोनों ग्रन्थ विषयवस्तु की दृष्टि से प्रमाणमीमांसा से सम्बद्ध हैं जो एक ही लेखक की वृत्ति होने की परोक्षतया पुष्टि करते हैं। अतः हरिभद्र द्वितीय को न्यायावतार का वृत्तिकार मान लेने पर न्यायावतार सिद्धर्षि की रचना है, इसमें कोई बाधा नहीं रह जाती।

जैन दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ०सागरमल जैन ने न्यायावतार की सिद्धर्षिकृत टीका में पाये जाने वाले 'ऊह या तर्क' स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा आदि प्रमाण जो मूल न्यायावतार में नहीं हैं के आधार पर सिद्धर्षिकृत टीका को उनकी स्वोपज्ञवृत्ति मानने पर संदेह प्रकट किया है। आपका तर्क है कि चूंकि मूल न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण की ही चर्चा है, एवं टीका में इन तीन प्रमाणों के अतिरिक्त 'ऊह' या 'तर्क' प्रमाण की भी चर्चा है।^{१२७} इसलिये मूलकार व टीकाकार भिन्न-भिन्न होने चाहिए। क्योंकि यदि टीकाकार ही मूलकार भी होते तो भले ही उसकी विशद व्याख्या मूल में न किए होते परन्तु बीजरूप में भी 'ऊह.या तर्क' प्रकरण की चर्चा तो किए ही होते।

आपका तर्क इस रूप में सिद्धर्षिकृत न्यायावतारटीका को उनकी स्वोपज्ञवृत्ति मानने के विरोध में एक नया तथ्य उद्घाटित करता है, परन्तु यदि हम उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र एवं उस पर उनकी स्वोपज्ञवृत्ति (सभाष्य तत्त्वार्थधिगमसूत्र) एवं हेमचन्द्र कृत योगशास्त्र तथा उसपर उनकी रचित स्वोपज्ञवृत्ति आदि रचनाओं का सम्यक् अनुशीलन करें तो कतिपय विषय-बिन्दु ऐसे मिलते हैं, जिनका उल्लेख

मूल में नहीं है, पर भाष्य या वृत्ति है। पुनः सिद्धर्षि ने टीका में स्वयं ही इस आने वाली शंका को समझते हुए कि 'ऊह' प्रमाण की चर्चा मूल में क्यों नहीं है, का स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि 'इस न्यायावतार प्रकरण में अनुमान से 'ऊह' को पृथक् करके नहीं दिखाया गया क्योंकि यह प्रकरण संक्षिप्त रुचि जीवों के अनुग्रह के लिए बनाया गया है।^{१२८}

दूसरे यदि न्यायावतार को सिद्धसेन दिवाकर कृत मान लिया जाय एवं सिद्धर्षि को उपलब्ध वृत्ति का वृत्तिकार मान लिया जाय तो एक विरोध यह आता है कि सिद्धसेन दिवाकर केवल छः नयों को ही मानते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में नैगम का कहीं उल्लेख नहीं किया है।^{१२९} जबकि न्यायावतार की सिद्धर्षिकृत टीका में नैगमनय की अतिविस्तार से चर्चा की गयी है। यदि सिद्धर्षि, सिद्धसेन के ग्रन्थ पर वृत्ति लिखे होते तो जो सिद्धसेन को अभीष्ट नहीं है या तो उसका उल्लेख ही नहीं करते या फिर उल्लेख करते भी तो यह कहकर कि मूलकार नहीं मानता पर यह मेरी अपनी व्याख्या है, परन्तु ऐसा कोई उल्लेख वृत्ति में नहीं मिलता। इसप्रकार यदि मूल में अनुपस्थित नैगमनय की चर्चा वृत्तिकार सविस्तार कर सकता है तो मूल में अनुपस्थित 'उह' प्रमाण की चर्चा वृत्तिकार क्यों नहीं कर सकता। अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यायावतार सिद्धसेन की रचना न होकर सिद्धर्षि की रचना है एवं उपलब्ध वृत्ति उन्हीं की स्वोपज्ञवृत्ति है।

कल्याणमन्दिरस्तोत्र

कल्याणमन्दिरस्तोत्र, उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में रुद्रलिंग के समक्ष तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया स्तोत्र है, जिसे सिद्धसेन दिवाकर की कृति मानी जाती है। प्रबन्धों के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर ने अपने संस्कृतज्ञान के अभिमान के कारण प्राकृत जैनआगम को संस्कृत में अनुवादित करने का बीड़ा उठाया था जिसके लिए उन्हें १२ वर्षपर्यन्त अज्ञातवास में रहने का कठोर पाराश्रिक नामक प्रायश्चित्त करना पड़ा था। उसी समय विचरण करते सिद्धसेन हरसिंगार के फूलों से रंजित भिक्षुक वेश धारण किए उज्जैन के महाकाल^{१३०} मन्दिर में आये थे। मन्दिर में भिक्षुक ने शिवविग्रह को नमन नहीं किया। रुष्ट होकर विक्रमादित्य ने इसका कारण पूछा। उत्तर देते हुए सिद्धसेन दिवाकर ने लिंगभेद और उसके परिणामस्वरूप अप्रीति होने का भय बताया। ऐसी अनहोनी बात सुनकर राजा ने परिणाम की चिन्ता किये बिना नमस्कार करने का आदेश दिया तब सिद्धसेन दिवाकर ने कल्याणमन्दिरस्तोत्र टीका के अनुसार अपने सुप्रसिद्ध संस्कृत कल्याणमन्दिरस्तोत्र द्वारा तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के नाम से सच्चिदानन्दरूप वीतराग जगदीश की

स्तुति सुनाते हुए आदरभाव से देवता को नमन किया। **कल्याणमन्दिर** नामक इस स्तोत्र के ग्यारहवें स्तोत्र को उच्चारित करते ही धरणेन्द्र नाम का देव उपस्थित हुआ, जिसके प्रभाव से धुआँ निकलने लगा। तत्पश्चात् उसमें अग्नि की ज्वाला निकली और अन्त में पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई।^{१३१}

इस सन्दर्भ में अवधेय है कि **विविधतीर्थकल्प**, **कथावली**, **प्रबन्धचिन्तामणि**, **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** और **सम्यक्त्वसप्ततिकाटीका** के अनुसार सिद्धसेन ने उस अवसर पर अपनी विख्यात द्वात्रिंशिकाओं का पाठ किया, जबकि **प्रभावकचरित**, **प्रबन्धकोश**, एवं **विक्रमचरित** के अनुसार सिद्धसेन ने **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** एवं द्वात्रिंशिकाएँ दोनों को सुनाया। इस विरोध का परिहार करते हुए डॉ० शार्लोट क्राउज़े^{१३२} का मत है कि 'उपर्युक्त कुछ ग्रन्थों में पार्श्वनाथ प्रतिमा के प्रादुर्भूत होने, पार्श्वनाथ स्तुतिरूप **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** के अतिरिक्त महावीर स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओं का पाठ भी निमित्तभूत कथित है तो वह इस कारण से अबाधित है कि जैन रीति के अनुसार किसी भी एक तीर्थकर की स्तुति पूजा आदि में बहुधा शेष तीर्थकरों की आराधना भी अन्तर्भूत समझी जाती है। उक्त कविताएँ विशेषतः प्रस्तुत प्रसंग पर उचित ही ज्ञात होती हैं क्योंकि इनमें कथित तीर्थकर स्तुति एक साथ परमात्मारूपी महादेव के प्रति भी मानी जा सकती है, जैसाकि पहली द्वात्रिंशिका के पहले पद्य के— 'स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षर भावलिंगम्' का स्वयंभू पद महाकालेश्वर लिंग का प्रचलित विशेषण है।^{१३३}

ग्रन्थ परिणाम एवं भाषा-शैली

कल्याणमंदिरस्तोत्र में कुल ४४ श्लोक हैं। संस्कृत में रचित इस ग्रन्थ के २३ श्लोक बसंततिलकाछन्द में हैं एवं अन्तिम ४४वाँ श्लोक आर्या छन्द में है। भक्तिमय इस स्तोत्र पर वैदिक प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। वृत्तासुर द्वारा रीकी गई गायों का मोचन इन्द्र ने किया था, इस तथ्य का संकेत स्तोत्र के ९वें श्लोक में मिलता है। मेरुतुंगकृत **भक्तामरस्तोत्र** के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्यकल्पना एवं शब्द योजना में मौलिक है। अत्यन्त सरस एवं भक्तिभावना से ओत-प्रोत इस स्तोत्र को श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से महत्त्व दिया गया है।

टीकाएँ

कल्याणमंदिरस्तोत्र पर जो टीकाएँ मिलती हैं, उनमें तपागच्छ के सोमसूरि (सं० १६०८) कृत वृत्ति, सोमकुशलगणि के शिष्य कनककुशलगणि (सं० १७६६)

कृत वृत्ति, हर्षकीर्ति द्वारा रचित व्याख्यालेश वृत्ति (सं० १७१६), गुणसागरकृत २५० ग्रन्थाग्र की टीका, जिनविजयगणि (सं० १७१०) कृत टीका, मुनिरत्नकृत **कल्याणमन्दिरच्छायास्तोत्र**, श्री तपाचार्यकृत **कल्याणमन्दिरस्तोत्रटीका**, माणिक्यचन्द्र (सं० १६६८) कृत **दीपिका**, मेरुतुंगाचार्य की **वालावबोध** टीकाएँ मुख्य हैं।

कल्याणमन्दिरस्तोत्र का प्रो० हर्मन जैकोबी ने जर्मन भाषा में अनुवाद किया है यह कनककुशलगणि एवं माणिक्यचन्द्र की टीका सहित एच० आर० कापड़िया द्वारा भी सम्पादित किया गया है।^{१३४}

रचनाकार

कल्याणमन्दिरस्तोत्र सिद्धसेन की रचना है या नहीं इसे लेकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में विवाद है। श्वेताम्बर परम्परागत मान्यता के अनुसार 'कुमुदचन्द्र' सिद्धसेन का दीक्षा नाम था, और इसलिए **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** के अन्तिम श्लोक में कवि या रचनाकार ने जो अपना नाम कुमुदचन्द्र दिया है, वह सिद्धसेन दिवाकर का ही अपर नाम है, अतएव यह सिद्धसेन दिवाकर की ही कृति है। परन्तु दिगम्बर परम्परा ऐसा नहीं मानती। इस मान्यता के अनुसार यह कुमुदचन्द्र सिद्धसेन के अतिरिक्त कोई अन्य होने चाहिए क्योंकि मात्र **प्रभावकचरित** में ही सिद्धसेन का दीक्षा नाम कुमुदचन्द्र होने का उल्लेख है। **प्रभावकचरित** से पहले सिद्धसेन विषयक जो दो प्रबन्ध लिखे गये हैं, उनमें कुमुदचन्द्र नाम का कोई उल्लेख नहीं है—पण्डित सुखलाल जी एवं बेचरदास जी ने अपने सन्मति की प्रस्तावना में इस बात को व्यक्त किया है।^{१३५} बाद के बने हुये दो प्रबन्धों मेरुतुङ्गाचार्यकृत **प्रबन्धचिन्तामणि** (सं० १३६१) एवं जिनप्रभसूरिकृत **विविधतीर्थकल्प** (सं० १३८९) में कुमुदचन्द्र नाम का कोई उल्लेख नहीं मिलता। राजशेखर के **प्रबन्धकोश** अपरनाम **चतुर्विंशति प्रबन्ध** (सं० १४०५) में कुमुदचन्द्र नाम मिलता अवश्य है परन्तु इसमें **प्रभावकचरित** के विरुद्ध **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** को '**पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका**' के रूप में व्यक्त किया गया है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि वीर की द्वात्रिंशिका स्तुति से जब कोई चमत्कार देखने में नहीं आया तब यह पार्श्वनाथ द्वात्रिंशिका रची गई, जिसके ग्यारहवें से नहीं किन्तु प्रथम पद्य से ही चमत्कार प्रारम्भ हो गया।^{१३६} ऐसी स्थिति में ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ द्वात्रिंशिका के रूप में जो **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** रचा गया। वह ३२ पद्यों की कोई दूसरी ही रचना होनी चाहिए न कि ४४ पद्यों वाला यह **कल्याणमन्दिरस्तोत्र**।^{१३७}

प्रो० हर्मन जैकोबी का मत है कि चूंकि सिद्धसेन की किसी भी कृति में कुमुदचन्द्र का उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए कुमुदचन्द्र, सिद्धसेन ही हैं ऐसा नहीं कहा जा

सकता। अतः उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** के कर्ता कुमुदचन्द्र, सिद्धसेन के दीक्षा नाम कुमुदचन्द्र से सर्वथा भिन्न सिद्ध होते हैं। **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** एवं **भक्तामरस्तोत्र** के जर्मन अनुवाद में प्रो० जैकोबी ने दोनों रचनाओं की कतिपय साम्यता के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कुमुदचन्द्रकृत **कल्याणमन्दिरस्तोत्र**, मानतुंगकृत **भक्तामर** स्तोत्र की अनुकृति है।^{१३८} **कल्याणमन्दिर** की पदावली, छंद, शैली कल्पनाएँ एवं तथ्यनिरूपण प्रणाली **भक्तामरस्तोत्र** के ही समान है। **भक्तामरस्तोत्र** में मूलरूप से ४३ श्लोक हैं, ३९वाँ श्लोक बाद में उसमें जोड़ा गया है। **कल्याणमन्दिर** में ४४ श्लोक हैं। जिस प्रकार **भक्तामरस्तोत्र** के अन्त में उसके कर्ता मानतुंग का नाम आता है उसी प्रकार **कल्याणमन्दिर** में भी उसके अन्तिम श्लोक में कुमुदचन्द्र का नाम आता है। इन्हीं समानताओं के आधार पर प्रो० हर्मन जैकोबी ने **कल्याणमन्दिर** को, **भक्तामरस्तोत्र** की अनुकृति माना है।^{१३९} प्रो० जैकोबी का उक्त मत जो अधिकांश अर्थों में समीचीन लगता है, क्योंकि निश्चित रूप से दोनों ग्रन्थों की शैली एवं तथ्य निरूपण प्रणाली में काफी साम्य है।^{१४०} अतः सिद्धसेन दिवाकर ही कुमुदचन्द्र हैं, यह मानने के लिए कोई तर्क नहीं रह जाता। मानतुंग का समय डॉ० हीरालाल जैन^{१४१}, प्रो० ए० वी० कीथ,^{१४२} डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री,^{१४३} प्रो० जैकोबी^{१४४} आदि विद्वानों ने वि० की छठी-सातवीं शताब्दी माना है। अतः यदि कुमुदचन्द्र ही सिद्धसेन दिवाकर हैं, ऐसा माना जाय तो **कल्याणमन्दिर** के **भक्तामर** के बाद की रचना होने एवं सिद्धसेन का समय पाँचवीं शताब्दी होने से, यह तथ्य निरापद नहीं रह जाता। **कल्याणमन्दिर** सिद्धसेन की कृति नहीं है, इसे स्पष्ट करने के लिए प्रो० जैकोबी ने दो दलीलें दी हैं, पहली यह कि यदि यह सिद्धसेन द्वारा रचित स्तोत्र होता, तो जैसे वीर स्तुतियों के अन्त में सिद्धसेन नाम आता है वैसे ही **कल्याणमन्दिर** के अन्त में भी वह नाम आता। दूसरी यह कि इस पर कोई पुरानी टीका नहीं है।^{१४५}

इसी आशय का उल्लेख पण्डित सुखलाल जी संघवी ने अपने **सन्मति तर्क** की प्रस्तावना में करते हुए कहा है कि सिद्धसेन दिवाकर का नाम मूल में कुमुदचन्द्र नहीं था, होता तो दिवाकर विशेषण की तरह यह श्रुतिप्रिय नाम भी किसी प्राचीन ग्रन्थ में सिद्धसेन की निश्चित कृति अथवा उसके उद्धृत वाक्यों के साथ जरूर उल्लिखित मिलता। प्रभावक चरित से पहले किसी भी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं है। इसलिए हमें ऐसा लगता है कि दिवाकर का कुमुदचन्द्र नाम मूल में नहीं था।^{१४६}

वस्तुतः यदि **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** सिद्धसेन की रचना होती तो पाँचवीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक के बीच के किसी न किसी आचार्य ने ऐसा उल्लेख

उल्लेख अवश्य किया होता, पर ऐसा नहीं है। अतः यह सिद्धसेन दिवाकर की कृति न होकर कुमुदचन्द्र की ही कृति है, यह सिद्ध हो जाता है।

ये कुमुदचन्द्र, **चिकुरद्वात्रिंशिका** के कर्ता हैं जिन्होंने ऋषभदेव की स्तुति में इसकी रचना की थी। डॉ० पी० एन० दवे^{१४७} का मन्तव्य है कि इस कुमुदचन्द्र का किसी **गुर्वावलि** में कोई उल्लेख नहीं मिलता, न ही ये दिगम्बर कुमुदचन्द्र (ई० सन् ११२५) हैं। कुमुदचन्द्र का समय १२वीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है, जिसके कुछ मुख्य कारण इसप्रकार हैं—

(१) १३वीं शताब्दी से पहले कुमुदचन्द्र का नाम सिद्धसेन के लिए नहीं मिलता, (२) **चिकुरद्वात्रिंशिका** में 'हेवाक' शब्द आया है जो पारसी या अरब मूल का शब्द होने से ११वीं शताब्दी से पहले का नहीं एवं (३) इस पर कोई प्राचीन वृत्ति या टीका भी नहीं मिलती।

अतः उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में यह सिद्ध हो जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर कल्याण मन्दिर के कर्ता नहीं है, यह रचना कुमुदचन्द्र की निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धसेन दिवाकर के **सन्मतितर्क**, **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, **न्यायावतार** एवं **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** ये जो चार ग्रन्थ माने जाते हैं। उनमें से वे **सन्मतिसूत्र** एवं कुछ **द्वात्रिंशिकाओं** के ही कर्ता सिद्ध हो पाते हैं। शेष द्वात्रिंशिकाएँ अन्य किसी सिद्धसेन की, **न्यायावतार** सिद्धर्षि की एवं **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** कुमुदचन्द्र की रचना है। इसमें कोई संशय नहीं रह जाता।

सन्दर्भ :

१. **श्रीजिनरत्नकोश** : हरिदामोदर वेलंकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, १९४४, अंक-१, पृष्ठ १३८।
२. शालाक्यं पूज्यपाद प्रकटितमधिकं राल्यतंत्रं च पात्रस्वामि प्रोक्तं विशोग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः - **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ १२७।
३. नीतिसारपुराणस्य सिद्धसेनादि सूरिभिः । वही, पृष्ठ १२७।
४. **तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति**, अ०१, सूत्र-१०, पृष्ठ-७१।
५. पण्डित सुखलाल जी एवं बेचरदास जी, **सन्मति प्रकरण**, पृष्ठ-६६।
६. धनञ्जय, **धनञ्जयनाममाला**, ११६, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, शांतिपुरी, सौराष्ट्र, वि०सं०-२०३६।
७. **सन्मति प्रकरण**, पृष्ठ-८३।

८. i उक्तं च वादिमुख्येन श्री मल्लवादिना सम्मतौ। हरिभद्र 'अनेकान्तजयपताका', सिटी प्रिंटिंग प्रेस अहमदाबाद से प्रकाशित, पृष्ठ-४७। क्रमशः
- ii. **जिनरत्नकोश**, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९४४, पृष्ठ २३३।
- iii. **जैनग्रन्थावली**, जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, बम्बई, वि०सं० १९६५, पृ०८०।
- iv. इहार्थे कोटिशा भङ्गा णिदिष्टा मल्लवादिना ।
मूलसम्मति-टीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम्॥—**अष्टसहस्री टिप्पण सम्मति प्रकरण**, पृ० ४०।
- v. नमः सम्मतये तस्मै भव-कूप निपातिनां ।
सम्मतिर्विवृतां येन सुखधाम प्रवेशिनि ॥ — **पार्श्वनाथचरित**, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, वीर नि० सं० २४४२, १/२२।
९. **सम्मति प्रकरण**, पृष्ठ-७२।
१०. **जिनरत्नकोश**, पृष्ठ-४२३।
११. 'सम्मतिवृत्तिरन्यकर्तृका' केवल इनता उल्लेख वृहत्टिप्पणिका में मिलता है। देखें— **जैनग्रन्थावली**, पृष्ठ-८०।
१२. डॉ०नेमिचन्द्र शास्त्री, **तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा**, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, सागर, (मध्यप्रदेश) महावीर प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित १९७४, पृष्ठ-२१४।
१३. **सम्मति प्रकरण**, पृष्ठ-७९।
१४. जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥ — **सम्मतिसूत्र** ३/६९।
१५. **सम्मति प्रकरण**, पृष्ठ-८२।
१६. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ-१२०।
१७. **सम्मतिसूत्र** - १/४-५।
१८. वही, १/५।
१९. इहरा समूह सिद्धो परिणामकओ व्व जो जहिं अत्थो।
ते तं च ण तं तं चेव व त्ति नियमेण मिच्छंतं ॥ — वही, १/३७।
२०. **तत्त्वार्थसूत्र**, पार्श्वनाथ वि०शो०संस्थान, वाराणसी, ५/३२, पृष्ठ-१३७।
२१. **सम्मतिसूत्र**, १/४९।

२२. एगे आया। एगे दंडे। एगा किरिया, **स्थानांगसूत्र**, सम्पादक- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति व्यावर, राजस्थान, १/१/२,३,४, १९८१।
२३. **सन्मत्तिसूत्र**, २/१०-१४।
२४. जं अपुट्टेभावे जाणइ पासइ य केवली णियमा।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धः ॥ —वही २/३०, द्रष्टव्य-
२/३,४,५,७,८,९,१३,२५।
२५. तस्माच्छ्रीसिद्धसेनोपज्ञनव्यमेत न कुत्रापि ज्ञानादर्शनस्य कालभेदः ।
यशोविजय - **ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्**, संपा०पं०सुखलाल जी, सिंधी जैन
ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, १९४२, पृष्ठ-४७।
२६. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ १४६।
२७. वही, पृष्ठ-१६७।
२८. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ १५१।
- 29 i. Prof. A.N. Upadhye - *Siddhasena's Nyāyāvātara and Other Works*
Introduction, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay 1971. p. XV.
- ii. **षट्खण्डागम धवलाटीका**, पु०-१, पृष्ठ-१५।
- iii. **कषायपाहुड-जयधवलाटीका**, पु०-१, पृष्ठ-२६०।
३०. पण्डित रतनलाल संघवी के अनुसार २२ द्वात्रिंशिकाओं में सात जिन की
स्तुति, दो वादोपनिषद् या वाद एवं शेष १३ भिन्न-भिन्न दार्शनिक पद्धतियों
से सम्बन्धित हैं। देखें - **जिनरत्नकोश**, पृष्ठ-१८३।
३१. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, १/२०, २४, २६, २/२५, ३/३, ८. ४/१९।
३२. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, २/१९, २२, २५, ३१।
३३. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, ११/२२।
३४. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, ३/८।
३५. तुलना करें-ईश्वरकृष्ण, **सांख्यकारिका-३** एवं **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** १३/५।
३६. ज्ञानदर्शनचारित्र्याग्युपायः शिवेहेतवः ।
अन्योन्य प्रपिक्षत्वाच्छुद्धावगमशक्तयः ॥—**द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, १९/१।
३७. उत्पादु विगम ध्रौव्यद्रव्यपर्यायसंग्रहम् ।
कृत्स्न श्री वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ॥- **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, २०-१।
३८. न्यायावतार सूत्रं च श्रीवरस्तुतिमप्यथ। — **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, २/८।

३९. **सन्मतिप्रकरण**, पृष्ठ-९६।
४०. वही, पृष्ठ-९६।
४१. इति निरुपमयोग **सिद्धसेनः** प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु वीरः ।
दिशतिसुरपुरुष्टुतस्ततो नः सततविशिष्ट शिवविज्ञारिधामः ॥ द्वात्रिं-१/
१५।
४२. महाचिर्धनेशो महाज्ञामहेन्द्रो महाशांतिभर्ता महा**सिद्धसेनः** ।
महाज्ञानमत्स्यावनी मूर्तिरर्हन स एकः परात्मागतिर्मे जिनेन्द्रः ।वही २१/
३१।
४३. महाब्रह्मयोनिर्महासत्वमूर्तिर्महा हंस राजो महादेव देवः ।
महामोह जेता **महावीरनेता** स एकः परात्म गतिर्मेजिनेन्द्रः ॥
- द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/३२।
४४. The *Vardhaman - Dvā*, the 21st in the enumeration lacks both poetic and philosophic heights of Siddhsena and shows certain polemic weakness. This can not be the work of Siddhasena.
Dr. A.N. Upadhye., *Siddhasena's Nyāyāvatāra* and other works. p.55.
४५. **सन्मति-प्रकरण**, प्रस्तावना, पृष्ठ १००।
४६. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ १००।
४७. **प्रभावकचरित**, वृद्धवादिसूरिचरितम् - १३८, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, वि०सं०१९८६, पृष्ठ-५९।
४८. मेरुतुंगाचार्य, **प्रबन्धचिन्तामणि**, फार्बस गुजराती सभा ग्रन्थावली, अंक-१४, पृष्ठ-१०।
४९. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ-१३१।
५०. **प्रभावकचरित**, १४२।
५१. **विविधतीर्थकल्प** - जिनप्रभसूरि, कुंडगेश्वरनाभेयदेवकल्प, पृष्ठ-८८, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, शांतिनिकेतन, वि०सं० १९९१।
५२. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका**, १/१।
५३. **विविधतीर्थकल्प**, पृष्ठ-८८।
५४. प्रभो : श्रीपार्श्वनाथस्य प्रतिमा प्रकटाभवत् । **प्रभावकचरित**, १४८।
५५. **सन्मतिप्रकरण**, पृष्ठ-३५।

५६. देखें— **द्वादशारनयचक्रम्**, न्यायागमानुसारिण्या वृत्या समलंकृतम्, प्रथम भाग, सम्पा०मुनि जम्बूविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर सन् १९६६, प्राक्कथनम् पृष्ठ २३।
५७. **सन्मति प्रकरण**, पृष्ठ-१६।
५८. एच०आर०कपाडिया - **तत्त्वार्थधिगमसूत्र** पर सिद्धसेनगणिकृत टीका की प्रस्तावना-७६, बाम्बे (वि०सं०१९३०)।
५९. **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ-१३४।
६०. **विविधतीर्थकल्प**, पृष्ठ-८८।
६१. **प्रबन्धकोश**, १५, पृष्ठ-१८ (वृद्धवन्दी सिद्धसेनो प्रबन्ध)।
६२. **सन्मतिप्रकरण**, प्रस्तावना, पृष्ठ-२२।
६३. **प्रभावकचरित**, १४२।
६४. **जिनरत्नकोश**, पृष्ठ-२२२।
६५. वही, पृष्ठ-२२२।
६६. वही, पृष्ठ २२२।
६७. **सन्मति प्रकरण**, प्रस्तावना, पृष्ठ-३५।
६८. पं०दलसुख मालवणिया, **न्यायावतारवार्तिकवृत्ति 'भूमिका'**।
६९. हीरालाल जैन, **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान**, पृष्ठ-८८।
७०. नाथूराम प्रेमी, **जैन हितैषी**, अंक १४, बाम्बे १९२०, पृष्ठ १०२-३।
71. S.C. Vidyabhusan, *A History of the Medieval and Modern Schools of Indian Logic*, Calcutta, 1909, p. 13.
72. H.Jacobi. *Samarāicakahā*, B.J. Calcutta 1925, Introduction. p.III.
73. P.L. Vaidya, *Nyāyāvatāra*, Bombay 1928, Introduction. p. XII.
74. A.N. Upadhye. *Siddhasena's Nyāyāvatāra and other works*. Introduction. p. XXIV.
७५. मुख्तार, **पुरातन जैनवाक्य सूची**, पृष्ठ १४४।
७६. जैनन्याय, (पृष्ठभूमि), कलकता-दिल्ली, १९६६, पृष्ठ १९-२१
७७. नेमिचन्द्रशास्त्री, **तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा**, पृष्ठ-२१२।
- 78 i. The earliest author as far as I know who specifies the name of Siddhasena Divākara as the author of *Nyāyāvatāra* is Śāntisūri of the 11th century A.D. or so. Prof. A.N. Upadhye - *Siddhasena's Nyāyāvatāra and other works*, Introduction, p. XXI.

- ii. हिताहितार्थसंप्राप्ति-त्यागयोर्यत्रिबन्धमम् ।
तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥१॥
शान्त्याचार्यः न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, संपा० पं०दलसुख मालवणिग्या,
सिंधी जैन ग्रन्थशास्त्रपीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि०सं०२००५,
पृष्ठ ५।
७९. आप्तमीमांसा, १०१-१०२, तुलना करें - न्यायावतार, २८।
८०. आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम् । — रत्नकरण्डश्रावकाचार,
तुलनीय न्यायावतार, का०-९, देखें-अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११,
पृष्ठ ३४९-३५२।
८१. अष्टकप्रकरण, ३/९९, ४,५, तुलना करें, न्यायावतार, २, श्री जैनग्रन्थ
प्रकाशक सभा ग्रन्थमाला, श्री राजनगर, वि०सं० १९९५।
८२. षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ५६, पृष्ठ-८३, तुलना करें न्यायावतार, ४।
८३. सन्मतिप्रकरण, प्रस्तावना, पृष्ठ-३५।
८४. पुरातन-जैनवाक्य-सूची, पृष्ठ-१३३।
८५. वही, पृष्ठ-१४४।
८६. समराइच्चकहा, प्रस्तावना, पृष्ठ-३।
८७. न्यायावतार, प्रस्तावना।
८८. प्रमाण समुच्चय, सम्पा० एच०आर०रंगास्वामी आयंगर, मैसूर, १९३०,
कारिका-३, पृष्ठ ८।
८९. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढभ्रान्तम् । — न्यायबिन्दु, १/४।
९०. न्यायावतार, ४।
९१. न्यायावतार, ५।
९२. न्यायावतार, पृष्ठ-२९।
९३. न्यायबिन्दु टीका, पृष्ठ-१३।
९४. न्यायावतार, ५।
९५. पुरातन-जैनवाक्य- सूची, पृष्ठ- १४२।
९६. पुरातन-जैनवाक्य-सूची, पृष्ठ-१४२।
९७. H. Jacobi, *Samarāiccakahā*, Introduction, p.3.
९८. पी०एल०वैद्य, न्यायावतार की प्रस्तावना, पृष्ठ-११।

१९९. पुरातन जैनवाक्य सूची, पृष्ठ-१४४।
१००. सन्मति प्रकरण, पृष्ठ-१३।
१०१. सन्मति प्रकरण, पृष्ठ १४-१६।
१०२. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति 'सिंधी जैनशास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृष्ठ २८७-८९।
१०३. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, सम्पा० पं० दलसुख मालवणिया, सिंधी जैन शास्त्र विद्यापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृष्ठ २८७-८९।
१०४. तुलना करें—
आज्ञावादेन सर्वत्र व्यवच्छेदः फलं न सत् । — प्रमाण समु०, २३।
एवं
प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् । — न्यायावतार, २८।
१०५. तुलना करें—
अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् । — न्यायावतार, २९।
एवं
गोचरसाम्य नान्य यथोक्त मनैकान्तं सर्वसिद्धि । — प्रमा० समु०, २७।
१०६. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, पृष्ठ २९१।
१०७. एक व्यक्तिगत साक्षात्कार के आधार पर।
१०८. असंग, अभिधर्मसमुच्चय, संपा० प्रह्लाद प्रधान, विश्वभारती शांतिनिकेतन, १९५० सांकथ्य परिच्छेद, पृष्ठ १०५।
109. Vasubandhu was born one year after his older brother Asaṅga become a Buddhist monk.
Tārānāth, *History of Buddhism in India*, (Geschichte des Buddhism in Indien), (G.tr. Arton schiefner), reprint Suzuki Research Foundation, Tokyo, p. 118.
११०. देखें— द्वादशारंभयचक्रं न्यायागमनानुसारण्या वृत्त्या समलंकृतम् भाग, १, २, ३ प्रका० जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९९६, जिसमें सन्मति की गाथाएँ, क्रमशः १/३१ पृष्ठ-२, ३/४७ पृष्ठ-७, १/२८ पृष्ठ-३५, ३/५९ पृष्ठ-८४, १/४ पृष्ठ-११५, ३/५८, पृष्ठ-४९६, १/६ पृष्ठ-५९६, १/४७ पृष्ठ-५८५, ३/४५ पृष्ठ-७३६, १/५ पृष्ठ-७३७-७६३, १/१२ पृष्ठ-७९३, १/३ पृष्ठ-८७६, ३/६९ पृष्ठ-८७६ पर उद्धृत हैं।

111. The earlier of two *Vartikakaras* Jineśvarasuri, ascribes the work of *Ādyasūri* at the beginning of his commentary and to *Pūrvācārya* at the end. Obviously to him the author was anonymous or unknown It is the subsequent *Vartikakaras* Śāntisūri, who uses such phrases as *Siddhasnārka sūtrām* and who explains at another place the phrase 'Siddhasenāya' as *sūtra-kartṥh*, so regards.

Nirgrantha, Editors - Prof. M.A. Dhaky & Jitendra Shah, Shardaaben Chimambhai Educational Research Centre, Ahmedabad, 1995. Vol. I. p. 40.

११२. ग्राहकमिति च निर्णायक द्रष्टव्यम् निर्णयाभावेऽर्थग्रहणायोगात्। तेन पत तथागतैः प्रत्यपादि-प्रत्यक्षंकल्पनापोढमभ्रान्तम् (न्या०वि०च, इति तदपास्तं भवति तस्य युक्तिरिक्तत्वात्)। **न्यायावतार**, सिद्धर्षिगणिकृतविवृतसहित, जैन साहित्य विकास मण्डल, बाम्बे, १९७१, पृष्ठ-४७।
११३. डॉ० हीरालाल जैन, **भारतीय संस्कृत में जैनधर्म का योगदान**, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२, पृष्ठ-११३।
११४. देखें — **जैनग्रन्थ और ग्रन्थकार**, पृष्ठ-३१।
११५. प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञापते न प्रायोजनम् ॥ — **न्यायावतार**, २।
११६. अपरोक्षयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षयां ॥ — **न्यायावतार**, ४।
११७. **अष्टकप्रकरणम्**, त्रयोदशधर्मवादाष्टकं, पृष्ठ-८९।
श्री हरिभद्रसूरिग्रन्थसंग्रह, श्रीजैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, वि०१९९५।
११८. **षड्दर्शनसमुच्चय**, ५६, पृष्ठ-८३।
११९. तथाचाह महामतिः। प्रसिद्धानिप्रमाणानि.....। **अष्टकप्रकरण**, पृष्ठ-८९।
१२०. **तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति**, अ०१, सूत्र १०, पृष्ठ-७१।
१२१. **प्रबन्धकोश**, पृष्ठ-२५ (हरिभद्रसूरि प्रबन्ध)।
१२२. देखें— **जैनग्रन्थ और ग्रन्थकार**, पृष्ठ-५, २०, २१, २४, ३१ आदि।
१२३. **न्याय-प्रवेश वृत्ति**, (ए०वी०ध्रुव की टिप्पणी एवं प्रस्तावना सहित) ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा १९३०।
124. Dr. S.C. Vidyabhusan, *History of Indian Logic*, p. 208.

१२५. **न्याय-प्रवेशवृत्तिपञ्जिका**, पृष्ठ-८२।
१२६. **न्याय-प्रवेशवृत्ति** की प्रस्तावना, ए०वी०ध्रुव, पृष्ठ-XXXIII.
१२७. **न्यायावतार**, सिद्धर्षि-टीका, पृष्ठ ७१-७२।
अन्वयव्यतिरेकग्राहिप्रत्यक्षानुपलम्भोत्तरकालभाविनोऽव्यभिचरितत्रिकाल-
व्यापिगोचरस्य मतिनिबंधन स्पोहसंज्ञितस्य प्रमाणन्तरस्य सम्बन्ध ग्राहियेष्टवात्।
— **न्यायावतार**, १८, ए०एन०उपाध्ये द्वारा सम्पादित, पृष्ठ-६५।
१२८. वही, पृष्ठ-७३।
१२९. सन्मत्तिसूत्र - १/४-५।
१३०. राजशेखरसूरिकृत **प्रबन्धकोश**, श्रीतपाचार्यकृत **कल्याणमन्दिरस्तोत्र टीका**,
श्री संघतिलककृत सम्यकत्वसप्ततिकाटीका के अनुसार 'महाकाल' या
महंकाल का मन्दिर था। जबकि भद्रेश्वरकृत **कथावली**, **प्रभावकचरित** एवं
विविधित्तीयकल्प में कुंडगे, (कुंडगेश्वर) महादेव का मन्दिर था ऐसा उल्लेख
मिलता है।
देखें— डॉ० शार्लोट क्राउजे, जैन साहित्य और महाकाल मन्दिर, **विक्रम
स्मृति ग्रन्थ**, विक्रम द्विसहस्राब्दी समारोह समिति, ग्वालियर, सं० २०००१
विक्रमी, पृष्ठ-४०२।
१३१. **प्रभावकचरित**, १४४-१४८।
१३२. **विक्रमस्मृतिग्रन्थ**, पृष्ठ-४०३।
१३३. डॉ० शार्लोटे क्राउजे-जैनसाहित्य और महाकाल मन्दिर, विक्रम स्मृतिग्रन्थ,
पृष्ठ-४०४।
१३४. देखें— **जिनरत्नकोश**, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना, १९४४,
पृष्ठ-८१।
और भी— *Discriptive Catalogue of Jain Manuscripts*, Vol. XIX.
Part 1, p. 104-127.
१३५. **सन्मतितर्क**, प्रस्तावना, पृष्ठ-३६।
१३६. परं तस्मात्तादृशं चमत्कारमनालोक्य पश्चात् श्री पार्श्वनाथद्वात्रिंशिकाभिमर्कतुं
कल्याणमंदिर स्तवं चक्रे, प्रथमश्लोके एवं प्रासादस्थितात शिखिशिखाग्रादिव
लिङ्गाद्भूमवर्तिरुद्रतिष्ठत् । **प्रबन्धकोश**, वृद्धवादिसिद्धसेनयो प्रबन्ध,
पृष्ठ-१८।
१३७. **मुख्तार**, **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**, पृष्ठ-१२७।

138. H. Jacobi-Foreword to the edition of the *Bhaktāmara-Kalyānamandira*, Bombay, 1932.
139. It is agreed that the *Kalyānamandira* has imitated the *Bhaktāmara*. H.Jacobi - Foreword to the edition of *Bhaktāmara Kalyānamandira*. Bombay 1932.

१४०. तुलना करें -आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्तदोषम्

त्वत्-सङ्कथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।

दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव

पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥ -**भक्तामरस्तोत्र**, ९।

एवं

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन! संस्तवस्ते

नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।

तीव्राऽऽतपोपहत-पान्थ-जनान्निदाधे

प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥

— **कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्**, ७।

जिनस्तोत्रसंग्रह, आर्थिका ज्ञानमती, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, (मेरठ) १९९२, श्लोक से उद्धृत ९।

१४१. डॉ०हीरालाल जैन, **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान**, पृष्ठ-१२५।

142. A.B. Kieth. *A History of Sanskrit Literature*, p.215.

१४३. डॉ०नेमिचन्द्र शास्त्री, **भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, पृष्ठ-२७३।

144. Foreword of *Bhaktāmara Kalyānamandira*, Bombay 1932.

१४५. **सन्मति प्रकरण**, प्रस्तावना, पृष्ठ-३६।

१४६. **सन्मति प्रकरण**, प्रस्तावना, पृष्ठ-३९।

147. P.N. Dave. *Kumudachandra - Summaries of Papers 21st Session All India O.Conference*, Srinagar 1961, p.104-5.



शब्द-सूची

अभ्रान्त	: १३, १४, ४९, ५०, ५१, ५२.
अभिधर्मसमुच्चय	: ५२, ५३.
अभेदवाद	: ९, १०, ११, १४, ३८.
अममचरित	: २.
अनेकान्त	: ३७.
अनेकान्तजयपताका	: ११, ३५.
अनेकान्तवाद	: ३८, ४२.
अनित्यवर्णवाचकत्ववाद	: ३७.
अनुयोगद्वार	: १५.
अर्पितानर्पितसिद्धेः	: ३८.
अव्यभिचारी	: ५१.
असंग	: ५१, ५२.
असत्कार्यवाद	: ३७.
अष्टकप्रकरण	: ४९, ५५.
आत्मस्वरूपवाद	: ३८.
आदिपुराण	: १.
आप्तमीमांसा	: ४९.
आवश्यकनिर्युक्ति	: ७, ८, १०, १४.
उपमितिभवप्रपञ्च	: ५४.
उपयोग-यौग-पदवाद	: ५, ३८.
उमास्वाति	: १२, १४, १५.
ऊह	: ५७.
ऋषिपालित	: ८.
कल्पनापोढ	: ५०, ५१.
कल्पसूत्र	: ८, ९.

कल्याणमन्दिरस्तोत्र	: ३०, ३९, ५८, ६०.
कषाय पाहुड	: १३.
केवलदर्शन	: ३८.
केवलज्ञान	: ३८.
कुमारसम्भव	: ४१.
कुमुदचन्द्र	: ६०.
क्रमवाद	: ७, ८, ९.
गर्दभिल्ल	: ४.
गुणवचनद्वात्रिंशिका	: ४, ४१.
गुणस्थान	: १२.
चतुर्विंशतिप्रबन्ध	: ६०.
चिकुरद्वात्रिंशिका	: ६१.
जिनदासगणिमहत्तर	: ३.
जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण	: ३, ५, १६.
जीतकल्पचूर्णि	: ३४.
जीवसमास	: १२.
जैनेन्द्रव्याकरण	: ५.
ज्योतिर्विदाभरण	: ४.
तत्त्वबोधविधायिनी	: ३५.
तत्त्वार्थवार्तिक	: ९.
तत्त्वार्थसूत्र	: १२.
तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	: ५६.
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र	: ४५, ५४.
तपागच्छ	: ५९.
तित्थोगालिय	: ७.
दर्शनोपयोग	: ७, ३८.
दिङ्नाग	: ५१, ५२.
देविन्दत्थवो	: ७, ८, १०.

दूषणाभाष	: ४८.
दृष्टान्त	: ४२.
द्रव्यास्तिक	: ३७.
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका	: ३९, ४०, ६९.
द्वात्रिंशिका	: ५, ६, ९.
द्वादशारनयचक्र	: ५, ६, ४५, ५४.
धनञ्जयनाममाला	: ६२.
धर्मकीर्ति	: १३, १४, ४९, ५१, ५३.
धवलाटीका	: १३.
नयकंड	: ३६.
नास्तित्ववाद	: ३८.
निज्जुत्ति	: १५
नियमसार	: ९, १२, १४.
निर्विकल्प	: ५१.
निशीथसूत्र	: ३.
नैगमनय	: ५८.
न्यायबिन्दु	: ५०.
न्यायावतार	: १३, ३४, ३९, ४०, ४५, ४६, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५५, ५७, ६२.
न्यायावतारवार्तिकवृत्ति	: ४७, ५१.
पंचवस्तुक	: १, २.
परार्थानुमान	: ४८, ५१.
पक्षधर्मत्व	: ५०.
पात्रस्वामी	: ४९, ५०, ५३.
पारमार्थिकप्रत्यक्ष	: ४८.
पाराञ्चिक	: ५८.
पार्श्वनाथचरित	: २.
पुत्राटसंघ	: १३.

पुरातन जैनवाक्यसूची	: ६, १७, ३७.
पूज्यपाद देववन्दी	: १६.
प्रभावकचरित	: २, ५, १०, २५, ४३, ४५, ४७, ४९, ५९.
प्रबन्धकोश	: २७, ४४, ५९.
प्रबन्धचिन्तामणि	: २५, २६, ४३, ४४, ५९.
प्रमाणद्वित्रिंशिका	: ३४, ५६.
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	: २.
प्रमाणमीमांसा	: ५७.
प्रमाणलक्षणटीका	: ४७.
प्रमाणवार्तिक	: ४७.
प्रमाणसमुच्चय	: १०, ४९, ५२.
प्रमेयकमलमार्तण्ड	: ३५.
प्रयोपवेशन	: ३९.
पर्यायास्तिक	: ३७.
प्रवचनसारोद्धार	: ३४.
प्रवचनसार	: २५.
प्रत्यभिज्ञा	: ५७.
प्रायश्चित्त	: ५८.
बाधविवर्जितम्	: ४७.
भक्तामरस्तोत्र	: ५९, ६०.
भगवती आराधना	: १५.
भर्तृहरि	: ७.
भ्रान्त	: ४९, ५०.
भेदाभेदवाद	: ३८.
मल्लवादी	: २, ५, ६, ४५.
महामति	: ५६.
मूलाचार	: १५, २५.
यशोधरचरित	: १.

यापनीय	: १३, २५.
युगपदवाद	: ७, ८, ९, ११, १२, १४, १५, ३८, ३९.
योगाचार	: ४८.
योगाचारभूमिशास्त्र	: ५१.
योनिप्राभृत	: ३.
रत्नकरण्डश्रावकाचार	: ४९, ५३.
राजवार्तिक	: २.
वसन्ततिलका	: ४०.
वाक्यपदीय	: ७, ९, १०.
वादमहार्णव	: ३५,
विपक्षसत्त्व	: ५०.
विविध तीर्थकल्प	: ४४.
विशेषणवती	: ५.
विशेषावश्यकभाष्य	: ५, १०, ५४.
शून्यवाद	: ४१.
सन्मति	: ३, ३५, ३६, ३७.
सन्मति तर्क	: ६०.
सन्मति प्रकरण	: ४२, ४३, ४४.
सन्मति सूत्र	: ८, ९, ११.
सपक्षसत्त्व	: ५०.
सप्तभंगी	: ३७.
समवायांग	: १२.
सम्बन्धनित्यत्यवाद	: ३७.
सम्मई	: ३५.
सर्वज्ञमुक्ति	: ३९.
सर्वार्थसिद्धि	: ६, ११, २६.
सामायिक	: १५.
सिंहसूरिगणिकमाश्रमण	: ४५, ५४.

सिद्धिर्षि	: ५५, ५८.
सिद्धव्याख्यानिका	: ४७.
सिद्धिविनिश्चय	: २, ३.
स्थानाङ्गसूत्र	: ३८.
स्याद्वाद	: ४८.
स्याद्वाद रत्नाकर	: २.
स्वर्णसिद्धियोग	: २८.
षट्खण्डागम	: १२, १३, ३९.
षट्द्रव्य	: ४२.
षड्दर्शनसमुच्चय	: ३४, ४९, ५६.
हरिभद्र	: ११, ४०, १५, ५०.
हरिवंशपुराण	: १.
हेत्वाभाष	: ४२.
क्षपणक	: ४.
क्षणिकवाद	: ३७.
तिलक्षण कदर्थन	: ५०.
ज्ञानदर्शनोपयोग	: ३९.
ज्ञानबिन्दुप्रकरण	: १७.
ज्ञानोपयोग	: ७.



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- आप्तमीमांसा : समन्तभद्र, अनु०प्रो०उदयचन्द जैन, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, वी०नि० २५०१।
- कल्याणमन्दिर स्तोत्र : कुमुदचन्द, अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा, सं० २००३।
- जिनरत्नकोश : हरिदामोदर वेलंकर, भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९९४।
- जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय : डॉ०सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९६।
- तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् : (श्रीसिद्धसेनगणिभाषानुसारिणीटीका) संशोधक- एच०आर०कापड़िया देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, १९२६।
- दर्शन और चिन्तन : पं०सुखलाल संघवी, अहमदाबाद, १९५७।
- द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सम्पा० पंन्यास श्री सुशील विजयगणि, श्री विजय लावण्य सूरेश्वर ज्ञानमन्दिर, बोटाद, सौराष्ट्र, वि०सं० २०११।
- द्वादशारनयचक्रम् : (न्यायागमनानुसारिण्यावृत्या समलंकृतम्) सम्पा० मुनि जम्बूविजय जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९६६, प्रथम भाग, १९७६ (द्वितीय भाग)।
- नियमसार : कुन्दकुन्द, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वीर नि०सं० २५११।
- न्यायावतारवार्तिकवृत्ति : सम्पा० पं०दलसुख मालवणिया, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४९।
- पुरातन-जैन-वाक्य सूची : पं०जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर, १९५०।

- प्रबन्ध चिन्तामणि : सिंधी जैन ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, १९४०।
- प्रवचनसार : (सप्तदशांगी टीका) कुन्दकुन्द, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ, १९७९।
- प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ : प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, टीकमगढ़, १९४६।
- बाबू छोटे लाल जैन स्मृति ग्रन्थ : बाबू छोटे लाल जैन स्मृति ग्रन्थ समिति, कलकत्ता, १९६७।
- विक्रमस्मृतिग्रन्थ : सिंधिया ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, ग्वालियर, सं० २००१ विक्रमी।
- संमति-तर्क-प्रकरणम् : (श्री अभयदेवसूरि निर्मितया तत्त्वबोधविधायिन्या व्याख्यया विभूषितम्) गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद, संवत् १९८०।
- सन्मतिप्रकरणम् : विवेचक पं० सुखलाल संघवी एवं वेचरदास दोशी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३।
- History of Indian Logic : (2 Vols.) M. Winternitz, Calcutta, 1933.
- Mūlācāra : Vatākera, Trans. H. Jacobi, SBE, XLV, 1895, Sholapur, V.S., 1980.
- Nirgrantha : Editor, Prof. M.A. Dhaky & Jitendra Shah, Sharadaben Chimantibhai Educational Research Centre, Ahmedabad, Vol. I, 1995.
- Nyāyāvātāra : Edited by Mahopadhyay Satish Chandra Vidyabhusan and Dr. S.R. Banerjee, Sanskrit Book Depot. (P) Ltd. Calcutta, 1981.
- Pramāṇa Samuccaya : Dinnāga, Edited by H.R. Rangaswami Ayanger, Masoor University Publication, 1930.
- Religion of Jainas : W. Schubring, Calcutta, 1966.

- Sambodhi** : L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, Vol. 10, April 1981, January 1982, N. 1-4.
- Seven Works of Vasubandhu** : Stefan Anacker, Motilal Banarasi-dass, Delhi, 1984.
- Siddhasena's Nyāyāvatāra and other works** : Editor. Prof. A.N. Upadhye. Jaina Sahitya Vikas Mandal, Bombay, 1971.
- Tattvārthādhigam Sūtra** : Editor H.R. Kapadia, Bombay, 1926.
- Vaishali Institute Research Bulletin No.1.** : Chief Editor, Dr. Nathmal Tatia, Research Institute of Prakrit, Jainology & Ahimsā, Vaishali, 1971.



हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jaina Philosophy — Dr. Nathamal Tatia	100.00
2. Jaina Temples of Western India — Dr. Harihar Singh	200.00
3. Jaina Epistemology — I. C. Shastri	150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought — Dr. Kamala Jain	50.00
5. Concept of Matter in Jaina Philosophy — Dr. J. C. Sikdar	150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar	150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy & Religion — Dr. Ramji Singh	100.00
8. Aspects of Jainology (Complete Set :Volume 1 to 5)	1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana — Dr. Sagarmal Jain	40.00
10. Pearls of Jaina Wisdom — Dulichand Jain	120.00
11. Scientific Contents in Prakrit Canons — N. L. Jain (H. B.)	300.00
12. The Heritage of the Last Arhat : Mahavira — C. Krause	20.00
13. The Path of Arhat — T. U. Mehta	100.00
13. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट : सात खण्ड)	560.00
14. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट : तीन खण्ड)	540.00
15. जैन प्रतिमा विज्ञान — डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी	120.00
16. जैन महापुराण — डॉ. कुमुद गिरि	150.00
17. वज्जालग (हिन्दी अनुवाद सहित) — पं. विश्वनाथ पाठक	120.00
18. प्राकृत हिन्दी कोश — सम्पादक डॉ. के. आर. चन्द्र	120.00
19. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय — डॉ. भिखारीराम यादव	70.00
20. गाथा सप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित) — पं. विश्वनाथ पाठक	60.00
21. सागर जैन-विद्या भारती (तीन खण्ड) — प्रो. सागरमल जैन	300.00
22. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण — प्रो. सागरमल जैन	60.00
23. भारतीय जीवन मूल्य — डॉ. सुरेन्द्र वर्मा	75.00
24. नलविलासनाटकम् — सम्पादक डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डेय	60.00
25. अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद — डॉ. राजेन्द्र कुमार सिंह	50.00
26. निर्भयभीमव्यायोग (हिन्दी अनुवाद सहित) — अनु. डॉ. धीरेन्द्र मिश्र	20.00
27. पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित) — अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा	250.00
28. जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन — डॉ. प्रतिभा जैन	80.00
29. जैन धर्म की प्रमुख साधियाँ एवं महिलाएँ — डॉ. हीराबाई बोरदिया	50.00
30. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म — डॉ. (श्रीमती) राजेश जैन	160.00
31. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास — डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र	100.00
32. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श — भगवतीप्रसाद खेतान	60.00
33. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ. फूलचन्द्र जैन	80.00
34. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन — डॉ. शिवप्रसाद	100.00
35. बौद्ध प्रमाण मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा — डॉ. धर्मचन्द्र जैन	200.00

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी — 5